प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मंत्री सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली।

तीसरी बार १९५५
मूल्य
दो रुपये

वृक्ष तो अपने-अपने स्थानों पर ही स्थिर रहते हैं, लेकिन वायु वृक्षों के बीजों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर उड़ाकर ले जाती है। फूल अपने स्थान पर ही रहता है, परन्तु पतिंगों के परों में फूलों के जो पराग चिपक जाते हैं उनके जरिये दूर-दूर के रहनेवाले पुंकेसर और स्त्रीकेसर का संयोग होता है और इस तरह पुष्प-सृष्टि का विस्तार हो जाता है। मानव-संस्कृति के बारे में भी यही स्थिति है।

प्रकाशकीय

इस पुस्तक के विद्वान लेखक हमारे देश के इने-गिने चिंतको मे से है। वह दीर्घकाल तक गाधीजी के साथ रहे है और उनकी विचार-धारा का उन्होने वडी गहराई से अध्ययन किया है। अपने स्वतत्र चिंतन से उन्होने जीवन के प्रति एक नया और स्वस्थ दृष्टिकोण वनाया है। उनके लिए जीवन सर्वोपरि है—वह जीवन जिसे जीकर व्यक्ति घन्यता का अनुभव करता है। उनकी दृष्टि मे हमारा साहित्य, हमारी सस्कृति तथा अन्य सभी चीजें उसी जीवन की साधना से उत्प्राणित होनी चाहिए।

इस पुस्तक के लेखो मे काकासाहव ने जीवन के विभिन्न पहलुओ से सवधित अनेक विषयो पर प्रकाश डाला है और वहुत ही विचार-पूर्ण सामग्री पाठको को प्रदान की है।

काकासाहव की लेखन-शैली का तो कहना ही क्या है! कही-कही तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो हम कविता पढ रहे है। भाव और भाषा का यह सौन्दर्य उनकी रचना को वहुत ही आकर्षक और प्रभावशाली वना देता है।

हमे हर्ष है कि पुस्तक का यह तीसरा सस्करण प्रकाशित हो रहा है। आशा है, पाठक इसे चाव से चढेगें और दूसरो को भी पढने की प्ररेणा देगें।

मूल लेख गुजराती मे लिखे गए हैं और उनका अनुवाद श्री श्रीपाद जोशी ने किया है।

—मत्री

विषय-सूची

जीवन-साहित्य

जीवन-संस्कृति

जीवित अितिहास

जीवन-हेतु

: १ :

पुराने खेतमे नअी जुताअी

अेक बूढे आदमीने अपनी मृत्युके समय अपने लडकोसे कहा कि अुसके खेतमे कुछ गहराअीपर धन गढा हुआ है। लडकोने सारा खेत खोद डाला मगर वह धन न मिला। लेकिन अुस साल फसल अितनी अच्छी आयी कि अुसके सामने गडा हुआ माल मिलता तो भी वह नगण्य मालूम होता। गहरी जोताअीका फल मिल गया।

सामान्य लोग विचारक्षेत्रमे जवतक अूपर-अूपरसे ही हल चलाते हैं तवतक सामाजिक जीवन प्राकृत और क्षीण रहता है। जव-जव 'धीर' लोगोने अुक्त वूढेके लडकोकी तरह खूव गहराअी-तक खोदा है तव-तव विचारकी अपूर्व फसल आयी है। श्रीकृष्णने अेकवार अैसा ही किया था, अुसीमे भारतीय विचारसागरमे अितना ज्वार आया। वुद्ध भगवानने अैसा कोअी भी प्रमाण मान लेने से अिन्कार किया जो आत्मप्रतीतिसे भिन्न हो, जिसके परिणामस्वरूप आर्य सस्कृतिकी ज्ञानाग्निपर जमी हुअी राख अुड गयी और आर्य विचार-राशि जगमगा अुठी। फ्रासके डिडेरो और दूसरे विश्वकोप-लेखकोने विचारक्षेत्रको खोदखादकर यह देख लिया कि मनुष्य-समाज कौनकौनसे तत्त्वोपर आधारित है और तव यूरप मे क्रान्ति होकर आम-वर्ग स्वतन्त्र हो गया। मार्टिन लूथरने अपने समयकी धर्म-व्यवस्थाको आग मे झोक दिया, जिससे समाजधर्मकी गदगी साफ होकर स्वाभाविकता

प्रतिष्ठित हो गयी। जिस तरह जब मनुष्य अवगरपराको फेंक कर ठाट-माट हरेक पदार्थ में 'कोऽसि ? तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यम् ?' ऐसा सवाल पूछनेकी हिम्मत करता है तब धर्म-संस्करण होता है, तत्त्वज्ञान नया बन जाता है, विद्वानों को नयी दृष्टि प्राप्त होती है और जिस दृष्टिका असर तादृश क्रियाओं और [illegible] होता है।

आज हिन्दुस्तानमें ऐसी तरह की तत्त्वजिज्ञासा, धर्मजागृति [illegible]

[illegible]

साहित्यके प्रति मेरे मनमे आदर है। लेकिन मैंने अपनी निष्ठा साहित्यको समर्पित नही की है। साहित्यको मै अपना अिष्ट देवता नही मानता। साहित्यको मै साधनके तौरपर ही स्वीकार करता हूँ, और वह साधनके तौरपर ही रहे अैसा—अगर आप मुझे माफ करे तो कहूँ कि—मै चाहता भी हूँ। गोस्वामी तुलसी-दासजीके मनमे हनुमानजीके प्रति आदर था, लेकिन अुनकी निष्ठा तो श्रीरामचन्द्रजीके प्रति ही थी। अिसी तरह मै चाहता हूँ कि हमारी अुपासना जीवनकी ही हो। साहित्य तो जीवनरूपी प्रभुकी सेवा करनेवाले अनन्यनिष्ठ भक्तके स्थानपर ही शोभा देता है। वह जब अपनी ही अुपासना शुरू करता है तब वह अपना धर्म भूल जाता है। मनुष्य अगर अपने ही सुखका विचार करे, अपनी ही सहूलियतोकी खोजके पीछे अपनी बुद्धि खर्च कर डाले और अपने ही आनदमे स्वय मशगूल हो जाय तो जिस तरह अुसका जीवनविकास अटक जाता है और अुसमे विकृति पैदा होती है, अुसी तरह साहित्यके बारे मे भी होता है। जब 'केवल साहित्यके लिअे साहित्य' का निर्माण होता है, यानी लोग जब साहित्यकी केवल साहित्यके तौरपर ही अुपासना करते है तब शुरूमे तो यह सब खूबसूरत दिखाअी देता है, विशेष आकर्षक लगता है, जबतक अुसकी पूर्व-पुण्याअी खत्म न हो तबतक अैसा भी महसूस होता है कि अुसका बहुत विकास हो रहा है, लेकिन अदरसे वह नि सत्त्व होता जाता है। साहित्यको अुसका पोषण साहित्यमेसे नही, बल्कि जीवनमेसे, मनुष्यके पुरुषार्थमेसे मिलना चाहिये। साहित्यमेसे ही पोषण प्राप्त करने-वाला साहित्य कृत्रिम है, वह हमे आगे नही ले जा सकता।

अिस तरहके कुछ-कुछ सकुचित या तग विचार मै रखता हूँ। अिसलिये 'केवल साहित्य' के अुपासको से मै डरता हूँ। अुनका देवता अलग है, मेरा देवता अलग। लेकिन साहित्यो-पासक बहुत अुदार होते हैं। हालाँकि मै साहित्योपासक नही हूँ, फिर भी वह अिस बातको स्वीकार करते है कि 'अविधिपूर्वकम्'

ही क्यों न हो, लेकिन मै साहित्यका यजन करता हूँ, और मैं 'श्रद्धयान्वित' हूँ। अत साहित्यके विषयमे अपने कुछ विचार पेश करने की धृष्टता कर रहा हूँ।

मनुष्यके विचार, अुसकी कल्पनाअे, भावनाअे, भावुकताअे अथवा भावुकताप्रधान अनुभव दूसरो के सामने परिणामकारक तरीकेसे व्यक्त करनेकी शक्ति जिस वस्तुमे है वह साहित्य है—यह मेरी अपनी साहित्यकी परिभाषा है। मुझे मालूम है कि तार्किक लोग अेक क्षणमे अुसको छिन्नभिन्न कर सकते है, लेकिन अपूर्ण मनुष्यकी बनायी हुअी परिभाषाअे अगर अपूर्ण हो तो उसमे आश्चर्य क्या? जिसमे भावोपर अनायास प्रभाव डालनेकी शक्ति है वह साहित्य है। मार्मिकता यानी छूतपन साहित्यका प्रधान गुण है।

यह प्रभाव अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। भावनाअें मनुष्य-जीवनका लगभग सर्वस्व होनेकी वजहसे अुनपर जिस वस्तुका प्रभाव पड़ता है अुस वस्तुकी तरफसे लापरवाह रहनेसे काम नहीं चलता। हवा, पानी, आहार वगैरा शुद्ध रखनेका आग्रह जिस तरह हम रखते है या हम रखना चाहिये अुसीतरह, बल्कि उससे भी ज्यादा आग्रह हम साहित्यकी शुद्धिके सम्बन्धमे रखना चाहिये। जिस तरह साहित्यकी रक्षा जहा की जाती है वहा जीवन पवित्र, प्रसन्न और पुरुषार्थी होगा ही। अुच्चारण-शुद्धि, लिपिकी शुद्धि, व्याकरणकी शुद्धि आदि प्राथमिक बातोंसे लेकर साहित्यके प्रत्येक अंग-प्रत्यंगमें शुद्धि का आग्रह होना चाहिये। लेकिन [illegible] कृत्रिमता न आये, बाह्याडम्बर न आये, दंभ न [illegible] दुराग्रह न आवे।

जिस [illegible] शुद्धिका अेक पहलू है और [illegible] [illegible] शुद्धिकी रक्षा की जाती है। लेकिन [illegible] हम [illegible] ही [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] अगर [illegible] [illegible] [illegible] साहित्य शुद्धिका [illegible]

भी आग्रह रखनेका जो कोई प्रयत्न करेगा अुसके खिलाफ आवाज बुलन्द करके अुसे चुप करानेकी कोशिश करे तो अुससे समाजका बेहद नुकसान होने वाला है। सामाजिक जीवनमे हो या साहित्यमे, शुद्धि रखनेकी जिम्मेदारी विशिष्ट श्रेष्ठ वर्गकी ही होती है। पुलिस या अदालतोके जरिये सामाजिक सदाचारका सर्वोच्च आदर्श नही टिक सकता। साहित्यकी भी यही हालत है। समाजके स्वाभाविक अगुआ जब शिथिल हो जाते हैं, डरपोक बन जाते हैं अथवा अुदासीन हो जाते हैं तब समाजको बचानेवाली कोअी भी शक्ति नही रहती।

साहित्यकी प्रवृत्ति हमेशा समाजसेवाके लिये ही होती हो, सो बात नही। मानसिक आनन्द, सन्तोष, झुझलाहट या व्यथाको प्रकट करनेकी, शब्दबद्ध करनेकी जो सहजप्रवृत्ति मनुष्यमे है अुसमेसे साहित्यका अुद्गम होता है। सगीतकी तरह साहित्यका आनन्द भी मनुष्य अकेले-अकेले ले सकता है, फिर भी तमाम वाग्व्यापार सामाजिक जीवनके लिये ही है। साहित्यकी प्रवृत्ति प्रधानतया अपने भावप्रधान मनन अथवा अुद्गारो को दूसरेमे सक्रान्त करनेकी अिच्छासे हुआ करती है। अिसलिये यह कहा जा सकता है कि साहित्य प्रधानतया सामाजिक वस्तु है। जीवनकी सभी अच्छी चीजोकी तरह सच्चा साहित्य आत्मनेपदी भी होता है और परस्मैपदी भी। मनुष्यके सर्वोच्च सद्गुण अुसके सामाजिक जीवनमेसे पैदा होते है। और तो और, अनन्यनिरपेक्ष मोक्षेच्छा भी सबोंके साथ आत्मौपम्य अनुभव करनेके लिये ही है, यानी अुसका प्रारभ और अन्त सामाजिक जीवनकी कृतार्थताके साथ ही है। साहित्यके बारेमे भी अैसा ही कहा जा सकता है। जिस तरह गायनके साथ तबूरेकी आवाज तान लिया ही करती है अुस तरह साहित्यके तमाम विस्तारमे जनहितका, लोक-कल्याणका सुर कायम रहना ही चाहिये। जो कुछ अिमसे विसवादी होगा वह सगीत नही बल्कि मानसिक कोलाहल है। वह साहित्य नही बल्कि, मानसिक जहर है।

सनातन हिन्दुस्तानके अैतिहासिक पुरुषोकी सूचीमे मैने गीता-भगवतीका नाम भी जोड दिया था। 'जिसके व्यक्तित्वकी छाप समाजपर अलग-अलग समयपर अलग-अलग ढगसे पडती है, और जिसके [illegible]पनका अनुभव हमेशा होता रहता है वह है व्यक्ति अथवा पुरुष' अैसी परिभाषा की जाय तो हम यह मान सकते है कि भगवद्गीताको राष्ट्रपुरुष कहनेमे अतिशयोक्ति जरा भी नही है। साहित्यके बारेमे भी यही बात है। अेक या अन्य प्रकारसे सामर्थ्य प्रकट करनेवाले व्यक्तित्व हृदयस्पर्शी होनेके कारण व्यक्तिके प्रभावकी तरह अुस व्यक्तिके साहित्यका भी प्रभाव हुआ करता है। प्रभु, मित्र या कान्ताके साथ साहित्यकी तुलना करनेवाले साहित्याचार्योने यही बात दूसरे ढगसे कही है। 'प्रभु' की जगह आज हम 'गुरु' शब्दको अधिक पसन्द करते है। गुरु, मित्र और जीवनसहचरी तीनो सबन्ध पवित्र है, अुदात्त है। साहित्यका बिरुद अैसा ही होना चाहिये। सामाजिक व्यवहारमे हम चाहे जिस आदमी-को घरमे घुसने नही देते। चोर, शठ, पिशुन या भुजगकी श्रेणीके लोगोको हम देहलीजके अन्दर पैर नही रखने देते। साहित्यके अूपर भी हमारी अैसी ही चौकी होनी चाहिये। अप-वित्र मनुष्य चाहे जितना शिष्टाचारी क्यो न हो, अुसे जिस तरह हम अपने बालबच्चोके साथ बगैर किसी रोकटोकके मिलने-जुलने नही देते अुसी तरह पापाचरणको अुत्तेजन देनेवाले साहित्यको भी हम अपने घर मे घुसने नही देना चाहिये। घरसे बाहरके व्यवहारोमे जहाँ सभी किस्मके लोगोके साथ सम्बन्ध आता है वहाँ अच्छी और खराब बातोको परखनेकी कला जिस तरह हम अपने बालकोको प्रदान करते है और ज्यादती करने-वाले मनुष्योको दूर रखनेको सिखाते है अुसी तरह साहित्यमे भी दुष्ट साहित्यके हावभावोमे न फँसकर अुसे दूर रखनेकी कला हमे अपने बालकोको सिखानी चाहिये।

लेकिन मै जानता हूँ कि आजकी हवा अिस तरहकी नही है।

शिष्टाचारकी पुरानी वाडे तोडनेका ही प्रयत्न हमने शुरू किया है। अुनके स्थानपर नये आदर्शकी नयी मर्यादाअें तैयार करनेकी वात हमे नही सूझी है। कृत्रिम या यान्त्रिक वाडोकी हिमायत मैं भी नही करता। लेकिन समाज-हृदयमे कुछ-न-कुछ आदर्श तो होना ही चाहिये और अुस आदर्श की रक्षा करनेका आग्रह रखनेवाले समाजधुरीण भी चाहिये। वे अगर अपना यह स्वभावसिद्ध कुलव्रत छोड दे तो सस्कृति कैसे टिक सकेगी? सस्कृति तो अँगीठीकी आगकी तरह जवतक हवा चलती है तभीतक टिकनेवाली चीज है। पुरुषार्थ और जागृतिकी चौकीके विना अेक भी सस्कृति नही बची है। सस्कृतिको प्रकृतिके अूपर नही छोडा जा सकता। लेकिन आज तो अैसा लगता है कि मानो हम सामाजिक अराजकता ही पसन्द करते है। यह तो साफ जाहिर है कि पुरानी व्यवस्था अव नही टिक सकती, न टिकनी भी चाहिये। लेकिन पुरानेकी जगह नयी व्यवस्था रचनेके लिये आवश्यक प्राणवल हमारे समाजमें होना चाहिये। कानूनके अकुशकी वात मै नही करता। मैं तो अैसा ही मानता हूँ कि साहित्यपर कानूनका अंकुश कमसे कम होना चाहिये। सदाचारकी सर्वोच्च कोटिका विचार करके कानून नही चलता। कानूनकी आँखे स्थूल होती हैं, जड होती हैं और अुसके अुपाय असस्कारी होते हैं। साहित्यपर अकुश होना चाहिये लोकमतका। लोकमतका के मानी हैं सस्कारी, अुदार, चारित्र्यवत्सल समाजधुरीणोका। अैसा कुछ करनेके लिये आजका समाज तैयार नही है यह मुझे मालूम न हो सो वात नही। लेकिन यह कहना ही पडेगा कि अिससे समाज अपना ही नुकसान कर लेता है। 'नैको मुनिर्यस्य वच प्रमाणम्' अिस दलील की आड में हम सारी मर्यादाओका छेद अुडाना तो नही चाहते?

साहित्य है कलाका ही अेक विभाग। अिसलिये कलाके नियम अिसपर भी लागू किये जाते हैं। कलाके लिये ही कला है, कला कभी भी किसी वाह्य वस्तुके अकुशको स्वीकार नही करेगी—अैसा

कहनेवाले केवल-कलावादी लोग नीतिके अंकुशका हमेशा मजाक अुडाते आये है। 'स्वात्मनि अेव समाप्त महिमा' अिस तरहकी यह कला देखते-देखते निरर्गल, स्वार्थी बन जाती है। और स्वार्थके साथ सत्त्व कब टिका है ? कला कलाके लिये (Art for Art's sake) की परिणति कला कलाकारके लिये (Art for the Artist's sake) मे हो जाती है।

मेरा यह आग्रह नही है कि कलाको नीतिका अंकुश स्वीकारना ही चाहिये। लेकिन अिसका कारण अलग है। साहित्यके पास अुसका अपना गाभीर्य, अपनी प्रसन्नता और पवित्रता क्यो न हो ? हास्य-विनोद अिन तीनोका विरोधी तो नही है। अितना ही नही बल्कि वह अिन तीनोको अुच्च कोटिको पहुचाकर दिखाता है। अगर साहित्य स्वधर्मका पालन करे तो अुसे नीतिका अंकुश स्वीकारना न पडेगा। साहित्य जब हीन अभिरुचिके या कला-शत्रु विलासिताके शराबखानेमे जा पडता है तब नीतिको लाचार होकर अुसे वहाँसे अुठाकर घर लाना पडता है। स्वराज्यमे या सुराज्यमे सदाचारी और स्वयशासित नागरिकोको नगर-रक्षकोसे डरनेका कोअी कारण नही रहता।

लेकिन कला और साहित्य अेक ही वस्तु नही है। सुन्दरता साहित्यका भूषण है न कि सर्वस्व। साहित्यका सर्वस्व, साहित्यका प्राण ओजस्विता है, विक्रमशीलता है, सत्त्ववृद्धि है। जीवनके विविध क्षेत्रोमे पौरुषकी वृद्धि करनेमे ही साहित्यकी अुन्नति रही है।

क्या विषय-सेवन समाजमे अितना क्षीण हो गया है कि विलास-प्रेरक साहित्यके द्वारा अुसे अुत्तेजन देनेकी आवश्यकता अुत्पन्न हुअी है ? समाजकी तरह साहित्यको भी देहधारीके नियमोके वश होकर अुच्च-नीच स्थितियाँ भुगतनी पडती है। जब समाजका सम्पूर्ण अुत्कर्ष हो चुका हो, अुसके कारण आनेवाली समृद्धि थक गई हो, तब भले ही समाज विलासितामे डूबकर सर्वस्व खोनेको तैयार हो जाय, लेकिन जब पतित समाज

मानवजातिपर आनेवाली सभी आपत्तियोका दुर्दैवी संग्रहस्थान बन गया हो, करोडो लोग भूखसे या निराशासे तडपते हो, पुरुषार्थका जहाँ-तहाँ घाटा ही दिखाअी देता हो और बरसातके दिनोकी काली रातकी तरह चारो ओर अज्ञान फैला हुआ हो, अैसे वक्तपर तो हृदयकी दुर्बलता बढानेवाला, नामर्द वासनाओको खूबसूरत करके दिखानेवाला और अनेक हीन वृत्तियोका बचाव या तरफदारी करनेवाला हत्यारा साहित्य हम पैदा न करें। चढनेसे पहले ही पडनेकी तैयारी कैसी ?

सिंहासनबत्तीसी और बेतालपच्चीसीके वातावरणसे हम अभी कही बाहर निकले हैं तो फिर अुसी वातावरणका सुधरा हुआ और आडबरपूर्ण संस्करण निकालकर क्या हम चढ सकते है ? दुर्गुणका कलेवर भले ही सुन्दर हो, अुसकी पोशाक भले ही प्रतिष्ठित हो, अुतने भरसे वह कम घातक साबित नही होता, बल्कि वह ज्यादा खतरनाक हो जाता है।

अपनी समाज-व्यवस्थाकी सुन्दरताका हम चाहे जितना बखान करे, मगर अुसमें आज अेक त्रुटि स्पष्ट दिखाअी देती है। अेक जमाना था जब हम सब संस्कृतमे ही लिखते थे। अिसलिये हमारे प्रौढ और ललित विचार सामान्य समाजके लिये दुष्प्राप्य थे। लेकिन अुस वक्त संत-कवि और कथा-कीर्तनकार वह सारा कीमती माल अपनी शक्तिके अनुसार स्वभापाकी फुटकर दूकानोमे सस्ते दाम बेचते थे। मुगल-कालमे अुर्दूकी प्रतिष्ठा बढी और अरबी, फारसी भापाओसे कवियोको प्रेरणा मिलने लगी। अंग्रेजी जमाना शुरू हुआ और अपनी सारी मानसिक खूराक अंग्रेजीसे लेनेकी हमे आदत पड गयी। अुसका अच्छा और बुरा दोनो तरहका असर हमारी मनोरचनापर पड़ा है, साहित्यपर तो पडा ही है। आजकलके हमारे अखबार और मासिकपत्रिकाअें नये जमानेके विचार फुटकर भावसे बेचनेका काम करने लगे है। लेकिन अिन तीनो युगोंमे गरीब श्रेणीके लोगोके लिये, देहातियो और मजदूरोके लिये, स्त्रियो और बालको-

के लिये विशेष प्रयास नही हुआ है, अशिक्षित समाजमे भी अुनका सामाजिक प्राण बहुत कुछ साहित्यका निर्माण करता है। हमारे सत्कारी देशमे साधुसन्तोकी कृपासे अुसमे कुछ वृद्धि हुअी हो तो अिससे आश्चर्यान्वित होनेका कोअी कारण नही। लेकिन ज्यादातर मध्यम श्रेणीका ही विचार हम हमेशा करते आये है। हम यह भूल गये है कि गरीब लोगोका जीवन सन्तोषमय, आशामय और सस्कारमय करना हमारा धार्मिक कर्त्तव्य है। कुछ अिनीगिनी कहानियोको छोड दे तो हमारी कहानियो और अुपन्यासोमे गरीबोके करुण काव्यमय जीवनका विचार भी नही होता। पुराणकारोने जिस तरह अमृत, अप्सरा और औषधियोसे भरे हुए स्वर्गकी कल्पना की, अुस तरह आजकलके अुपन्यासकार अैसेही किसी बेकार आदमीकी कल्पना करते है जो वकील-वैरिस्टर हुआ हो, जिसने विलायतका सफर किया हो या वसीयतनामेसे जिसको खूब पैसा मिला हो और अुसके 'आत्मनि सतुष्ट' निरर्थक जीवनका सविस्तार वर्णन करते है। जातिभेद हमारे मनोरथोमे भी अितना भरा हुआ है कि मध्य श्रेणीके बाहरकी दुनियाको हम नही देख सकते। बिलकुल गरीब लोगोका जीवन हमे दयापात्र किन्तु रहस्यशून्य लगता है। अीसपके अुस बारहसीगेकी तरह हम सिरपरके सीगोके गरूरमे अपने पतले पेरोका तिरस्कार करने लगे है, या तिरस्कार करने जितना भी ध्यान हम अुनकी तरफ नही देते। कर्म और पुनर्जन्मके सिद्धान्तका आश्रय लेकर हम अपने अनाथद्रोहको ढँक लेते है, अनाथोकी सेवा तो दूर रही, अुनका स्मरण तक हम नही करते। अग्रेजी कवि हूडके 'कमीजका गीत (Song of the Shirt) की बराबरी कर सके अैसा मौलिक काव्य क्या किसीने लिखा है? अीसपके अुस बारहसीगेकी जो हालत अन्तमे हुअी वही हालत हमारी हमेशा होती आयी है। और अब तो विनाशकी घटाअे सिरपर मडरा रही है। हमारा लोकप्रिय साहित्य हमारी सामाजिक स्थितिका सूचक है। जो कुछ

दिलमे होगा वही होठोपर आयेगा न ? गरीवोकी मुश्किले कौन-कौनसी हैं, अुनके दर्द-दु ख क्या हैं, अुनके सवाल कितने पेचीदा और विशाल है अिन सव वातो पर जिम्मेदारीके साथ विचार करके असली सवाल हल कर सके अैसी योजना जव होगी तभी गरीवोके दिलोमे कुछ आशा पैदा होगी न ? जिसकी हम अैरन चुराते है अुसीको अगर दानमे छोटीसी सूअी देते हो तो अुसे लेते समय लेनेवालेके दिलमे कैसी भावना अुत्पन्न होगी ? हमारा साहित्य अगर हमे अपना युगधर्म न वताये और अुस धर्मका पालन करनेकी प्रेरणा हमे न दे तो वह अन्य सव प्रकारसे सरस होते हुअे भी अुसे विफल ही कहना चाहिये।

गरीवोको वाहर रखनेके लिये जिस तरह हम किवाड वन्द करके खाना खाते है और पक्तिभेद का प्रपच रचते है अुसी तरह हमने साहित्यकी विशिष्ट कठिन शैलियोको अपनाकर ज्ञानकी प्याअू मे जातिभेद पैदा किया है। अुदात्त, अुन्नत विचार आम जनताको जिस आसानीसे मिलने चाहिये वह नही मिल सकते। हमारे साधुसन्तोने गरीवी का व्रत ले लिया था, अिसी लिये वे गरीवोकी सेवा कर सके और गरीवोके लिये प्राणपूर्ण साहित्य लिख सके। हिन्दुस्तानकी सवसे वडी ताकत अुसकी जन-सख्या है। लेकिन हमने गरीवोका द्रोह करके अिसी वलको भाररूप वना दिया है। जवतक हम गरीवोके लिये साहित्य न लिखेगे, हजारो की तादाद मे वाहर निकलकर गरीवोको हमारा अितिहास और आजकी हमारी स्थिति, हमारा काव्य और हमारा धर्म तथा अुसकी खूवियाँ न समझाअेगे, अपने जीवनपर जमी हुअी राख हटाकर अुसे प्रदीप्त करने की प्रेरणा न देगे तव-तक हमारा साहित्य पाडुरोगी ही रहेगा।

साहित्यकी अुन्नतिके लिये तैयार होनेवाली योजनाओमे कोष और सन्दर्भग्रन्थ, अितिहास और विवेचन, पाठ्यपुस्तके और प्रमाणग्रन्थ, परिषदे और समितियाँ—वहुत कुछ वाते होती हैं। वह सव छोडकर साहित्यके अुद्धारके लिये गरीव जनताकी

[illegible] आगाही
[illegible] अर्थ-परिग्रह-प्रमा-
[illegible] अिलजाम भले
[illegible] यह मानता हूँ कि
[illegible] जमीनमेंसे ही पोषण मिलता है,
[illegible] पोषण समाजमें ही है। मानवता और
[illegible] ही हमारा साहित्य समृद्ध होनेवाला है अिसमे
[illegible] भी शक नही है।

[illegible] आजकलकी योजनाओको मै नीचा दिखाना नही चाहता। अुनमे यथा-शक्ति भाग भी लेना चाहता हूँ। लेकिन असली बातको भूल जानेसे काम न चलेगा।

जहा पुरुपार्थकी कमी हो जाती है और जीवनमे शिथिलता आ जाती है वहाँ साहित्यके बारेमे अल्पसन्तोप और रसिकताका छिछलापन स्वाभाविक रूपमे आ जाता है। आज हम महाकाव्य नही लिख सकते, हमारी प्रतिभा चौदह पक्तियाँ किसी तरह पूरी करनेसे पहले ही सूख जाती है—अिस तरहकी आलोचना मै नही करना चाहता। काव्यकी लम्बाओी-चौडाओीपर मै अधिक जोर देना नही चाहता। लेकिन हमारे काव्यविपय अुत्तुग अथवा गभीर नही हुआ करते, हमारे काव्यविवेचन सर्वकप और अुत्कट नही हुआ करते, अैसी आलोचना मै जरूर करूँगा।

साहित्य तो ज्यादातर व्यक्तिगत प्रयास ही है। जबतक वह गभीर और दीर्घ अुद्योगके परिणामरूप न होगा तबतक छिछला ही रहेगा। अीश्वरने असाधारण प्रतिभा प्रदान की हो तो भी वह शक्ति बीजरूप ही होगी। मनुष्यको कमसे कम मालीका काम तो अीमानदारीके साथ करना ही चाहिये। साहित्यमे सहयोग-के साथ काम किये बिना भी न चलेगा। सहयोगके लिये जो सद्गुण आवश्यक है अुन्हे अपनेमे लाये बिना अब एक कदम भी आगे बढना मुश्किल है। सिद्धान्तका आग्रह, स्वभाव-भेदको नजरअन्दाज करनेकी शक्ति, तफसीलमे अुतरनेकी कुशलता

और अेक ही सकल्पसे लम्बे अरसे तक चिपके रहनेकी दृढता— अिन सामाजिक सद्‌गुणोका विकास अगर हम न करेंगे तो हमारे हाथो कुछ विशेष साहित्यसेवा हो ही न सकेगी ।

यह तो हुअी साहित्यकी सेवा । किन्तु सच्चे साहित्यका निर्माण तो जनताके पुरुषार्थका ही फल है। 'कारभार (कारोबार) मे दखल देनेकी अिजाजत न होगी तो करभार भी नही किया जा सकता ।' अिस जगविस्यात सूत्रके पीछे सिर्फ भाषासौष्ठव या अनुप्रासकी लज्जत नही है । अुसमे लज्जतकी अपेक्षा अमेरिकन जनताका पुरुषार्थ ही प्रमुख वस्तु है। साहित्यकी अुन्नति जनताकी अुन्नतिके साथ ही होती है । आपके जिलेके किसानोने गुजराती भाषामे जो वृद्धि की है वह अपनी दो-चार परिषदे भी न कर सकेंगी । 'हमने वल्लभभाअीके हाथो अपना सिर सौंपा है न कि नाक ।' अिस वचनपर गुजराती जनताको हमेशा नाज रहेगा । 'हमारे खर्चेसे बन्दूकें और तोपें रखते हैं मगर कभी दिखाते भी नही । हमारे बालबच्चोको बन्दूको और तोपोका मजा चखवायेंगे तो हमारी औलाद तो सुधरेगी ।' यह अेक ही वाक्य गुजराती भाषाको वीर्यशाली बनानेके लिये काफी है। साबरमतीके किनारे गाधीजीने और बारडोली के खेतोमे वल्लभभाअीने जिस भाषाको गढा है वह भाषा अपनी स्वाभाविकतासे ही वीरोदात्त और प्रौढ बनी है । साहित्य जनताके पराक्रमका प्रसाद है । बूढा मिशनरी टेलर हमसे कह गया है, 'यथा भाषकस्तथा भाषा' । साहित्यकी अुन्नति करनी हो तो अपने जीवनको अुन्नत करो । साहित्य जीवन की छाप है, साहित्य जीवनकी सुगध है ।

सूरत साहित्य मडल
१५-६-२८

: ३ :

साहित्योपासना

कोअी परीक्षामे पास हो जाय, किसीके घर लड़का पैदा हो,

कि [illegible] जाय, या किसीका [illegible] तार लानेवालेका [illegible] तारका महत्त्व [illegible] तार लानेवालेके विषयमे [illegible] अुसके मनमे रहती है । और [illegible] अिनाम देकर जिस अुपकारकी पूर्ति करने- [illegible] करता है । असलमे देखा जाय तो तार लानेवालेका अुपकार क्या ? तारका मजमून बनानेमे अुसका हिस्सा थोडा ही हुआ करता है ? मनीआर्डर या पारसल लानेवाले डाकियेकी हालत भी अैसी ही है ।

फिर भी आनन्दमूढ होना मनुष्यका स्वभाव है । लेकिन अिस मनुष्यस्वभावके कारण अिनाममे मिला हुआ पैसा जेबमे डालनेवाला डाकिया अगर अपनी ही बडाअी महसूस करने लग जाय तो अुसके जैसा मूर्ख कौन होगा ?

अध्यापककी कुर्सीपर बैठकर विद्यार्थियोके सामने सुन्दर साहित्य परोसनेका काम जो लोग करते है अुनके प्रति भी अिसी तरहकी कृतज्ञताबुद्धि विद्यार्थियोके मनमे रहा करती है । साहित्य-क्षेत्रमे अच्छे-अच्छे फल चुननेमे अध्यापककी कुशलता, सदभिरुचि और विद्यार्थीका कल्याण समझनेकी सद्बुद्धि अिन सब बातोका महत्त्व है, अिसमे कोअी शक नही । लेकिन अगर अध्यापक अैसा गर्व करेगा कि अुन परिपक्व साहित्यफलोको मानो अुसीने जन्म दिया है, तो अुसका वैसा करना हास्यास्पद होगा ।

अैसा मानना, कि हमे जिस वस्तुमे आनन्द हुआ अुसी वस्तुका हमारे कहनेसे-आस्वाद लेकर दूसरा आदमी अुतना ही आनंदित हो जाय तो वैसा करके अुसने हमारे आनन्दको दुगुना बनानेमे मदद दी—यह अुसीका हमारे अूपर अुपकार है, शायद ठीक होगा ।

जो हो, दुनियाकी तरफ देखनेकी दृष्टि और जीवनको उन्नत बनानेका मार्ग जिस [illegible]

हुआ हो वह साहित्य सिर्फ पढ़कर रहने देनेके लिये नही है, वल्कि अमृतमय रसायनकी तरह अुसका विधिपूर्वक आदर-युक्त सेवन करना पडता है। परन्तु जो अेक वार साहित्योपजीवी वन जाता है अुसे घी या खीर परोसनेकी दर्वी (चमची) की तरह सिर्फ परोसनेका आनन्द लेकर ही वैठे रहनेकी आदत पड जाती है। और वह अिसी वातका विचार करता रहता है कि वह मिठाई किस तरह लोगोंके सामने परोसनेसे परोसनेवालेको मिलनेवाली वाह-वाही अुसे मिले। यह दर्वीव्रत निष्काम हो या सकाम, जीवन को अुन्नत करनेवाला तो हरगिज नही है।

साहित्य—अुच्च साहित्य—असलमे देखा जाय तो हृदयमे आभिजात्य अुत्पन्न करनेका और जीवनको अुन्नत वनानेका अेक साधन-मात्र है। साहित्यका केवल प्रचार करनेकी अपेक्षा उसे हजम करके, अपना जीवन अुन्नत करके सेवाद्वारा अुस जीवन की सुगन्धि फैलाकर समाजको और अपनेको कृतार्थ वनाना चाहिये। अैसी सेवा करते-करते हमको भी किसी दिन सरस्वती—वैखरीका अुपयोग करनेका मौका मिल जाता है और हमारे हाथसे ,या मुखसे प्रसन्न साहित्यका निर्माण होता है। अिस ढगसे होनेवाले साहित्यका प्रचार अपरिहार्य, सहज और शुभ-परिणामकारी होता है।

अच्छा साहित्य देखकर मनमे सिर्फ परोसनेवालेकी वृत्ति जागृत नही होनी चाहिये, वल्कि 'अिष्टैं सह भुज्यता' की प्राचीन आज्ञाके अनुसार या सामाजिक मनोवृत्तिमे अुसका सेवन करके अिष्टमित्रोंके साथ अपना जीवन अुन्नत और परिपुष्ट करनेकी तरफ ही हमारा झुकाव होना चाहिये।

यहाँतक किये हुअे विवेचनमे कोअी असाधारण वात कही हो सो वात नही। लेकिन परोसनेकी वृत्तिका दोप आजकलके अध्यापक, लेखक, प्रचारक, कवि और पत्रकार सवमें वहुत वढ गया है और अिसलिये साहित्यका सेवन करके साधना द्वारा अुसे हजम करके जीवनको अुन्नत वनानेकी ओर जितनी

लापरवाही होने लगी है कि अक्लमद लोगोको भी यह छोटी-सी सूचना करनेकी जरूरत पैदा हो गयी हे ।

कोअी भी ग्रथ पढते वक्त ग्रथकारकी वृत्ति और दृष्टिके साथ तदाकार होकर पढना चाहिये । लेकिन ग्रन्थके बारेमे कभी प्रामाण्यबुद्धि अुत्पन्न नही होने देना चाहिये । ज्ञान चाहे जहाँसे, चाहे जैसा मिले तो भी, तारतम्य बुद्धि तो अपनी ही होनी चाहिये । प्रत्येक ग्रन्थका कालिक, देशिक और वैयक्तिक (व्यक्तिगत) सस्करण करना ही पडता हे । यह जो कर सकता है अुमीका वाचन सफल और कृतार्थ होता हे ।

हिडलगा जेल,
१९३२

: ४ :

साहित्यकी आजकी अेक कसौटी

सस्कारी लोगोका पक्ष लेकर राजा भर्तृहरिने साहित्य, सगीत और कलासे विहीन लोगोको बे-सीग-और-पूछके पशु कहा है। यह लिखते समय भर्तृहरिके मनमे साहित्यके बारेमे कितना अूचा खयाल होगा ! आजकी प्रथाके अनुसार अगर हमने अुस साहित्य-स्वामीसे पूछा होता कि 'आपकी साहित्यकी परिभाषा क्या है ?' तो तुरन्त अेक वाक्यमे अुसने कह दिया होता 'नरपशुका जो पुरुषोत्तम बना सकता है वह साहित्य है ।' भर्तृहरिकाका 'अेकान्ततो नि स्पृह' पडित न लोभ या कीर्तिसे ललचायेगा, न राजा से भी डरेगा अैसे ही मनुष्योको हम साहित्यवीर कह सकते है ।

साहित्य दैवी शक्ति है। अिस शक्तिके बलपर निर्धन मनुष्य भी लोकप्रभु बन सकता है और महान् सम्राट् भी राजदडसे जो कुछ नही कर सकते अुसे शब्दशक्ति द्वारा आसानीसे साधता है । राजाको तनख्वाह देकर अपने यहाँ 'प्राणत्राणप्रवण-मति' हृदयशून्य सिपाही रखने पडते है। लेकिन साहित्यसम्राट्के

पास सहृदय सज्जनोंकी स्वयसेवी फौज हमेशा तैयार रहती है। सच्चा साहित्यवीर यह नही कह सकता कि फलां चीज मेरे लिये 'अशक्य' है। साहित्यकी दीक्षा लेनेके बाद अुसे तो प्रत्येक न्याय्य और धर्म्य कार्य अपना ही समझना चाहिये। सुखी लोग फुरसतके वक्त समय बितानेके लिये कुछ अच्छा-सा साहित्य पढना चाहते हैं। अुसकी पूर्ति करनेसे और भाषा सौन्दर्यके नये-नये प्रकार अुत्पन्न करनेसे साहित्यकी सेवा हो गयी अैसा कोअी न माने। लोगोमे अुत्साह पैदा करना, लोगोकी शुभवृत्तिको जागृत करना, और सरस्वतीके प्रसादसे लोगोका धर्मतेज प्रज्ज्वलित करना साहित्यकारका काम है। सिर्फ जनरजन करना, लोगोमे जो-जो वृत्तियाँ अुत्पन्न होगी अुन सबके लिये पर्याप्त आहार दे देना साहित्यकारका धधा नही है. 'अैसे लोगोमे मैं नही हूँ'—कहकर भर्तृहरिने गाया था —

'न नटा न विटा न गायका न परद्रोह-निबद्ध-बुद्धय.' अित्यादि।

सौन्दर्यके साथ अगर शील हो तभी वह शोभा देता है, साहित्यके साथ सात्विक तेज हो तभी वह भी कृतार्थ होता है।

हमारे जमानेमें मानवताकी कसौटी करनेवाला अेक बडा सवाल हमारे सामने खडा है। प्रत्येक मनुष्यको वह कसता है—राजसेवकको तथा जनसेवकको, धर्माधिकारियोको तथा अर्थाधिकारियोको, हिन्दुओको तथा औरोको। जिस तरह खेतोमे, हमारी धारणाओमे अस्पृश्यता घुस गयी है, वह जबतक जडमूलसे निकल न जायेगी तबतक हमको शान्ति मिलनेवाली नही है।

राजनैतिक पुरुष कमर कसकर अुसके पीछे पडे हैं। सामाजिक रूढियो के विषय मे अुदासीन रहनेवाले हमारे साधुसन्तोने अिस अस्पृश्यताको बदनाम करनेके लिये अपनी प्रासादिक वाणीका प्रयोग किया है। महाराष्ट्रमे वैश्योमे तुकाराम, और ब्राह्मणोमे गृहस्थाश्रमी अेकनाथ और ब्रह्मचारी रामदास अस्पृश्यताको बर्दाश्त न कर सकते थे। गुजरातमे ज्ञानी सत अखो और भक्तशिरोमणि नरसैया अस्पृश्यताको दूर करनेके लिये

धर्मवीरकी तरह लडे हैं। आजके जमानेमे श्रद्धामूर्ति श्रद्धानन्दजीका बलिदान भी अिसीलिये हुआ है। साहित्य-वीरोको भी आज अपनी शक्ति—शक्तिसर्वस्व—अिसी धर्मकार्यमे लगानी चाहिये। अस्पृश्यतानिवारण हमारा युगधर्म है। अिससे पहले कि हम मर जाय, अस्पृश्यता मर ही जानी चाहिये, वरना सनातन धर्मके भी टिकने की आशा नही है।

१९२९

: ५ :

ब्राह्मी साहित्यकार

अिस विशाल विश्वमे हमारे जीवनसे श्रेष्ठ कोअी भी वस्तु नही है। हम जो कुछ देखते या सुनते है, जो कुछ हमारे मनमे या अनुभवमे आता है वह सब जीवनके क्षेत्रमे आ ही जाता है। कल्पना-सृष्टि और आदर्श-सृष्टि भी जीवन-जगतके दो खड ही है और अज्ञात अनन्त तो जीवन-जगतका क्षितिज कहा जा सकता है।

और मरणको क्या हम जीवनक्षेत्रके बाहरका समझेगे? नही, हरगिज नही। मरण भी जीवन हीकी अेक अुत्कृष्ट विभूति है। जीवनमे जो कुछ अपूर्ण रह जाता है वह मरणमे पूर्ण और कृतार्थ होता है। मरण के बारेमे हम जरूर कह सकते है—

येथें नाहीं झाली कोणाची निरास। आल्या याचकास कृपेविशी॥

(यहा तो चाहे जो याचक आ जाय, अुसको कभी निराशा नही हुआ करती। सबसे अूपर अुसकी अेकसी ही कृपा रहती है।)

दिन और रात मिलकर जिस तरह पूरा दिन अेक होता है असी तरह जीवन और मृत्यु दोनो मिलकर सम्पूर्ण जीवन होता है। दिनके वक्त सर्वत्र सफेद अधेरा फैला होता है और अिसलिये हम सिर्फ अेक सूर्य और अेक पृथ्वी तक ही देख सकते है। रातके वक्त काला निर्मल प्रकाश चारो ओर फैल जाता है

जिससे आकाश खुला हुआ दिखाई देता है, विस्तृत मालूम होता है, अुस प्रकाशमे हम अनेक पृथ्वियाँ और अनन्त सूर्य देख सकते हैं। रात्रिका वैभव दिनके वैभवकी अपेक्षा कओी गुना अधिक होता है और इसीलिये अनन्त सूर्योंके दर्शन अेक साथ होते हुअे भी हमें अुनमेंसे किसीका भी ताप सहना नही पडता। अनन्त कोटि सूर्य अेकत्र चमकते हैं, फिर भी वह हमें शान्ति ही प्रदान करते हैं।

जिस तरह मनुष्य अपने वचपनमे स्कूल मे वहुत-से सवक सीखता है और वडा होनेपर व्यापक जीवनमे अुन्हे अुपयोगमें लाता है या प्रयोगशालामें छोटे-छोटे प्रयोग करके वादमे लोक-व्यवहारमे अुन प्रयोगोका विस्तार करता है, अुसी तरह हम अपनी सारी आयुमें जो व्यक्तित्व और अध्यात्म आत्मसात् करते हैं अुसीको मरणके द्वारा व्यापक और वृहत्तम वनाते है। अिसी-लिये अैसा कहा जाता है कि मरण तो जीवनका नया और अुत्कृष्ट सस्करण है। जीवन और मरण मिलकर जो अेक वृहत्तम वस्तु वनती है अुसीको व्रह्म कहा जाता है। अुससे अलग कुछ भी नही, अुससे अुच्च कुछ भी नही। अनन्तसे अधिक अुच्च क्या हो सकता है? अनन्तकी ओर देखनेके पहलू अनन्त होते है, लेकिन मूल वस्तु तो 'अेकमेवाद्वितीयम्' ही है।

ॐकार प्रणव जिस तरह परव्रह्मका वाचक है अुसी तरह साहित्य भी जीवनका—सम्पूर्ण जीवनका—वाचक हो सकता है। अितनी वडी प्रतिष्ठा साहित्यकी है। लेकिन अुसकी साधना अत्यन्त सावधानीसे, अुचित ढगसे होनी चाहिये। जिस तरह मूर्तिकी प्राणप्रतिष्ठा करनेके वाद ही अुसे देवत्व प्राप्त होता है, अुसी तरह साहित्यकी प्राणप्रतिष्ठा करनेके वाद ही अुसे प्रणव-पूज्यता और वाचाशक्ति प्राप्त होती है। प्राणप्रतिष्ठा करना अेक दैवी विद्या है, अमर-कला है। यह विद्या, यह कला जिसने प्राप्त की है अैसा कवि शायद ही मिलता है, कविका नाम धारण कर मुर्गेकी तरह छाती निकालकर अिधर-अुधर भटकनेवाले पामर

जीव अनेक है। अुनकी तो हम बात ही छोड दे।

प्रतिभाशाली चित्रकार सृष्टि-सौन्दर्यको चित्रित कर अुसे स्थायी बनाता है। यो तो सृष्टि-सौन्दर्य हम अपनी आँखो देखते ही है, अुसे चित्रबद्ध करनेकी क्या जरूरत? ज्यादा-से-ज्यादा अेकाध छाया-चित्रकार (फोटोग्राफर) की मदद ले तो काफी है। लेकिन चित्रकारका कार्य तो कुछ और ही है। वह यह सिखाता है कि प्रकृतिका सौन्दर्य आँखसे नही अपितु हृदयसे कैसे देखना चाहिये। प्रत्येक सृष्टिकी जगह वह प्रति-सृष्टिका निर्माण करता है। अुसकी बनायी हुअी अिस नवीन सृष्टिका जीवनमे अन्तर्भाव होनेपर भी वह साफतौरपर जीवनसे अलग ही दिखाअी देती है, और नित्यके अनुभूत जीवनपर कुछ और ही अलौकिक प्रकाश डालती है। चित्रकार की प्रतिभा अन्तर्बाह्य विश्वको हृदयस्रोतमे शराबोर कर रसस्निग्ध बनाती है। अिसीलिये तो रसिको की दृष्टिमे चित्रकार तीर्थरूप बन जाता है। अिस तरहके अुच्च-कोटिके चित्रकार दुनियामे बहुत ही कम हुअे है। नाम-मात्रके चित्रकार तो हर घरकी दीवारपर लटकते या प्रत्येक प्रकाशनके अधेरेमे सोते हुअे दिखाअी देते है।

सच्चा साहित्यकार सबक नही सिखाता, बल्कि दृष्टि देता है। अिसीलिये शिक्षकके पदपर बैठे बिना ही वह गुरुस्थान प्राप्त करता है। किसी अधेका हाथ पकडकर अगर अुसे हम एक कमरेमे ले जाय और वहाँकी प्रत्येक वस्तुका उसे स्पर्श कराके अुस कमरेका परिचय दिला दे तो वह उसमे आसानीसे रह सकता है और अपना नित्यका व्यवहार भी चला सकता है। लेकिन अितना झझट करनेके बजाय अगर हम अुस अधेको दृष्टि दे सके तो अेक क्षण पूर्वका वह अधा कमरेकी सभी वस्तुओका मानो स्वामी बन जायगा। फिर तो अुसे कमरेकी हर चीजका परिचय करानेकी जरूरत नही रहती। अब तो वह हमारा आश्रित नही, साथी बन गया।

साहित्यकी महिमा अैसी ही है। साहित्य पाठ नही पढाता,

दृष्टि देता है। साहित्य जीवनका सिर्फ अुद्दीपन है, रहस्योद्घाटन है, साक्षात्करण है।

हे साहित्यगुरो परमात्मन्, तेरे अवतारके सदृश ब्राह्मी साहित्यकार अिस दुनियामे भेज दे। दुनिया श्रापद्ग्रस्त है, अुसे शान्ति प्रदान कर, अुसे कृतार्थ कर।

फरवरी १९३७

: ६ :

सौन्दर्यका मर्म

साहित्यकी भाषा मानो अेक वर्तन है। साहित्यका मूल्य अिस वातसे निर्धारित होता है कि हम अुस वर्तनमे किस किस्मका माल भरना चाहते हैं।

कुछ लोग समझते हैं कि साहित्यकी सारी कल्पना अुसके रूप और सौन्दर्यपर रची हुअी है। कोअी भी विचार या कल्पना अगर आकर्षक रूपमे रखी हुअी हो, अुसमेसे चमत्कृति पैदा होती हो तो वह साहित्य हैं। भारी-से-भारी मूल्यवान विचार या अनुभव और आसमानतक अुडनेवाली कल्पना अगर रोचक रूपमे न रखी गयी हो तो अुसे हम साहित्य न कहेंगे। अुसे दर्शन कहो, धर्मशास्त्र कहो या सन्तवाणी कहो। अुसे आप साहित्य नही कह सकते।

अिसके विपरीत अगर कोअी विचार विलकुल मामूली हो, कल्पना छिछली हो, आदर्श हलका और समाजविनाशक हो, लेकिन अगर वह मनोरजन करता हो और अुसका स्वरूप चित्ताकर्षक हो तो वह अुच्च कोटिका साहित्य कहा जायगा। मनोविनोद, चित्ताकर्षण और रूपलावण्य ही साहित्यका प्राण है।

अिसमे कोई शक नहीं कि कोअी भी वाग्व्यापार अगर चित्ताकर्षक रूपमें पेश न किया गया होता तो हम अुसे सरस साहित्यके तौरपर नही पहचानते, लेकिन अगर अुस साहित्यमे आया हुआ विचार हीन हो, अनुभव छिछला हो, और कल्पना

सडी हुअी हो तो सिर्फ रूपपरसे ही हम अुसे अुत्तम साहित्य नही कहते ।

अब जरा रूपका स्वरूप जाँच ले । कोअी भी युवक अथवा युवती शरीर और मनमे निरोग हो, व्यायाम, सयम तथा प्रसन्नतासे अुसने अपने यौवनकी अच्छी रक्षा की हो तो अुसमे अपनेआप ही अमुक मात्रामे सौन्दर्य आ ही जाता है । यह सौन्दर्य साबुनसे, तरह-तरहके खुशबूदार तेलोका अिस्तेमाल करनेसे या नये ढगके अनेक रग और दवाइयाँ लगानेसे नही आ सकता । आरोग्य और यौवन स्वय ही सुन्दर होता है । सुन्दरता और आकर्पकता अुसकी सहज सुवास होती है । लेकिन अिसके विपरीत अगर शरीर बीमार हो, मन विकृत हो, स्वभाव स्वार्थी, चिडचिडा या अहप्रेमी हो और यह सब छिपानेके लिये कपडोकी सजावट, शिष्टाचारकी तमीज और हालचालके नाज व नखरो द्वारा सौन्दर्य लाया गया हो तो कुछ भूखे लोग अुस चमक-दमकसे भले ही आकर्पित हो जायँ, लेकिन जानकार, स्वच्छ अभिरुचि रखनेवाले लोग यह सारा प्रयास देखकर दुखी ही होगे, अुनके मनमे ग्लानि ही पैदा होगी ।

साहित्यका भी अैसा ही रूप है । साहित्य जीवनका प्रतीक है । जीवन अगर निरोग, प्रसन्न, सेवापरायण, प्रेमपूर्ण और पराक्रमी होगा तो अुसके सभी व्यापार आकर्पक और प्रभावशाली होगे । जिस विचारमे आर्यता है, अुदात्तता है, सर्व-मगलकारी कल्याणकी भावना है अुसका शब्दशरीर आप-ही-आप भाव-गभीर, ललित-कोमल और प्रसादपूर्ण होगा । अुच्च साहित्य सुन्दर होता ही है, लेकिन सजधज करनेसे कोअी साहित्य अुच्च या शिष्ट नही होता ।

अिसलिये केवल साहित्यकी अुपासना करनेके बजाय अगर हम आर्य और प्रसन्न जीवनकी अुपासना करे तो साहित्यकी सुन्दरता स्वय ही फूट निकलेगी । वृत्तिकी आर्यता ही शिष्टाचार या तमीजकी आत्मा है । निरा शिष्टाचार हास्यास्पद होता

है या दिलको अुकता देता है। खोखली सौन्दर्योपासना असिसे अन्य कोअी असर पैदा नही कर सकती।

जिस साहित्यमे प्रगतिशील जीवनकी प्रेरणा अथवा प्रतिध्वनि हो वह साहित्य प्रगतिशील है। अैसे साहित्यमे और सब कुछ हो या न हो, अनुकरण तो हरगिज नही होना चाहिये। दूसरा कुछ हो या न हो, अुद्देश्यका अभाव तो कभी नही होना चाहिये।

जून १९३७

: ७ :

प्राचीन साहित्य

साहित्यकारोने कविताकी तुलना कान्तासे की है। शास्त्रकारोने कुटुम्बमें स्त्रीकी जिस प्रतिष्ठाकी कल्पना की है वही प्रतिष्ठा सस्कारी जीवनमे साहित्यकी भी है। जो समाज स्त्रीकी प्रतिष्ठाको भूल जाता है वह साहित्यकी कदर भी क्या करेगा ?

जो मनुष्य जीवन-भर व्रत-नियमादि किया करता है, अुसे यह भान नही रहता कि हम कहाँ थे और कहाँ जा रहे है। अुसके लिए भूत और भविष्य दोनो शून्य हैं। क्या हमारे टीकाकारोका भी यही हाल हो गया होगा ? सस्कृत-साहित्यके रहस्यको प्रकट कर देनेवाले टीकाकार कम नही हैं। यदि साहित्यका कुरुक्षेत्र करना हो तो हमारे टीकाकारोकी सेना अितनी बडी है कि वह जिस देशको चाहे हरा सकती है। परन्तु साहित्यको व्यापक दृष्टिसे देखना किसीको सूझा ही नही। जिस तरह कालिदास पुष्पक विमानमे बैठकर लङ्कासे अयोध्या तकके प्रदेशका निरीक्षण विहग-दृष्टिसे कर सके, अथवा यक्षपर दया करके वह हिमगिरिसे अलकापुरी तक मेघको भेज सके, अुस तरह अेक भी टीकाकारको यह नही सूझा कि वह साहित्यखण्डका समग्र अवलोकन करे। जिस तरह वीणा दस-पाँच मनुष्योका ही मनोरञ्जन कर सकती है, अुसका सङ्गीत किसी

महासभामे व्याप्त नही हो सकता, अुसी तरह टीकाकारोकी दृष्टि भी अेक सम्पूर्ण श्लोकके बाहर नही पहुचती। ज्यादा-से-ज्यादा यदि अुन्होने यह बता दिया कि नान्दीका श्लोक सम्पूर्ण नाटककी वस्तुओको किस तरह सूचित करता है, तो वे कृतार्थ हो जाते है। हमारे साहित्य-मीमासक भी जितनी गहराईमे अुतर सके है, अुतने विस्तारसे नही देख सके। वे अेक श्लोकके भीतर दस-पाच अलकारोकी ससृष्टि सिद्ध कर सकते है, परन्तु यह बतलाना वे अपना कर्त्तव्य नही समझते कि अेक सम्पूर्ण महाकाव्य या खण्डकाव्य किस तरह अेकराग है और अुसकी आत्मा किसमे है ? असका अपवाद-रूप अेक क्षेमेन्द्र माना जा सकता है। अिस काश्मीरी महाकविने अलकार और रसोके बाद औचित्यका महत्त्व बतला दिया है। अुसने अेक ही कविके अेक ही श्लोकका रस निचोडनेके बदले सस्कृत-साहित्यके बत्तीस विख्यात कवियोकी भिन्न-भिन्न काव्य-कृतियोको लेकर अुनके गुण और दोषोकी विवेचना की है। यह निष्पक्ष कवि दोषोको बताते समय अपने दोषोको भी ध्यानमे लाना नही भूला। तथापि यह कल्पना तो क्षेमेन्द्रको भी नही सूझी थी कि अेक सम्पूर्ण नाटक अथवा काव्य लेकर अुसके रहस्यकी खोज की जाय। अिसकी दृष्टि से औचित्य था—

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलकरणे रसे।
क्रियाया कारके लिगे वचने च विशेषणे॥
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते।
तत्वे सत्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सार-सग्रहे॥
प्रतिभायामवस्थाया विचारे नाम्न्यथाशिषि।
काव्यस्यागेषु च प्राहुरौचित्य व्यापि जीवितम्॥

अितनी ही जगहोमे 'औचित्य-विचारकी चर्चा' करके कवि रुक गया है। रवीन्द्रनाथने हमे साहित्यकी ओर देखनेकी अेक-नयी दृष्टि दी है।

जैसे नाटक काव्यका निष्कर्ष है, अुसी तरह कवि भी सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय आकाक्षा, जातीय आदर्श अथवा प्रजाकी वेदनाओकी स्वयभू मूर्ति है। जब कोई भट्टनारायण 'वेणीसहार' लिखता है, तब द्रौपदीका क्रोध, भीमकी प्रतिज्ञा, कर्णका मत्सर और अश्वत्थामाकी जलनका चित्र खीचनेके बाद वह राष्ट्रीय अुत्थान और पतनकी मीमासा भी अपने ढगसे करना चाहता है। जब कालिदास 'रघुवश' लिखने बैठते हैं तब रघुके कुलकी ही नही किन्तु अखिल आर्य-सस्कृतिकी प्रकृति और विकृतिको अकित कर देना चाहते हैं।

हमारे कवियोकी कृतियोकी ओर अैतिहासिक अथवा सामाजिक दृष्टिसे देखनेकी वृत्ति भले ही पश्चिमी लोगोने हमे सुझाई हो, परन्तु रवीन्द्रनाथका आर्य-हृदय तो सस्कृति-साहित्यकी ओर आर्य-दृष्टिसे ही देख सका है। जिस प्रकार एक समर्थ चित्रकार केवल दस-पाँच लकीरोसे सपूर्ण चित्रको सूचित कर सकता है अुसी तरह रवीन्द्रनाथने भिन्न-भिन्न प्रसगोपर लिखे हुए पाँच-सात स्फुट निबन्धोसे ही यह सब दिखा दिया है कि सस्कृत-साहित्य क्या है, सस्कृत-कविका हृदय कैसा है, हिन्दुस्तानका अितिहास किस पुरुषार्थको लेकर बैठा है, अित्यादि। सस्कृत-कवियोमे अैतिहासिक दृष्टि भले ही न हो, परन्तु अुनमे अैतिहासिक हृदय तो अवश्य है। सामाजिक सुख-दुखोकी प्रतिध्वनि अुनके हृदयोसे जरूर अुठती है। राष्ट्रके अुत्कर्षके साथ वे आनन्दित होते है और अुसकी मूर्छाके साथ मूछित। लोगोका अध पात देखकर उनका हृदय रोता है, और जब ऐसा होता है तब वे प्रेमभरे और मनोहर वचनोसे समाजको सचेत करना चाहते है।

जहा शास्त्रका बस नही चलता, जहा नीतिशास्त्रकार 'अूर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे' अिस तरह अरण्यरोदन करते है, वहा कविजन अपनी सहृदयतामे समाजके हृदयको जागृत करके समाजको उन्नतिके मार्गपर ले जाते हैं। मनु,

याज्ञवल्क्य, पाराशर और अुनकी जातिके अनेक स्मृतिकार समाजपर जो असर नही कर सके, वह असर लुटेरोका प्रमुख वाल्मीकि अेक अमर-काव्य द्वारा कर सका है। श्री शकराचार्य-ने प्रस्थानत्रयीपर भाष्य लिखकर जो दिग्विजय प्राप्त किया, उससे कही बढकर दिग्विजय षट्पदीके समान सुन्दर स्तोत्रोको लिखकर उन महा-परिव्राजकाचार्यने प्राप्त किया है। शकराचार्य-को शास्त्रार्थ करते समय खण्डन-मण्डन-द्वारा विरोधियोकी बुद्धिपर हठ-पूर्वक विजय प्राप्त करनी पडी, परन्तु जब वे परम-हस अपने सुन्दर स्तोत्रोका आलाप करते होगे तब लोक-हृदय स्वेच्छासे, राजी-खुशीसे पिजडेमे आगया होगा। अैसे कवियो-का हृद्‌गत भाव प्रकट करनेके लिए अुनके समान ही समर्थ कवियोकी आवश्यकता थी। बारह वर्ष व्याकरण रटकर, दूसरे बारह वर्ष तक न्याय-शास्त्रके छिलके छीलनेके बाद साहित्य-शास्त्रकी 'सर्जरी' सीखकर तैयार हुए टीकाकारोका वह काम नही।

वाल्मीकि, भवभूति, भास और कालिदास जैसे कवियोने रवीन्द्रके समान समालोचकको पाकर 'अद्य मे सफल जन्म अद्य मे सफला क्रिया' कहकर अुसी तरहकी कृतार्थताका अनुभव किया होगा जो न्यूटन और केप्लरका जन्म होनेपर ब्रह्मदेवको अपनी सृष्टि रचनापर हुअी होगी। काल निरवधि है और पृथ्वी विपुला है, यह हमारे कवियोकी श्रद्धा रवीन्द्र जैसे समान-धर्मात्माको देखकर चरितार्थ हुअी होगी।

जब पुराने टीकाकारोने हमे आवश्यक दृष्टि नही दी, तब हमारे पाश्चात्य पण्डितम्मन्य अध्यापकोने हमे अुलटी ही दृष्टि दी। अुन्होने यही पाठ पढाना शुरू किया कि यूरोपियन आदर्शा-नुसार हिन्दी अितिहासमे कुछ भी नही, यूरोपियन शिष्टाचार-के अनुसार हिंदी-काव्य हमेशा तुच्छ समझे जायँगे, अितना ही नही वरन् 'क्षेम केनचिदिदुपाण्डुतरुणा' के समान श्लोकका जिस समाजमे निर्माण हुआ, जिस समाजने किलोकी दीवारोमे

नही, किन्तु वन-उपवनकी गोदमे ही परवरिश पायी है, अुसी समाजके कवियोको नि सर्ग निहारनेको नेत्र नही है, अैसा कहनेकी भी ढिठायी करनेमे वे और अुनके शिष्य नही हिचकते ! हब्शी मनुष्य जबतक अपना-सा रग और अपनी-सी नाक तथा होठ किसीके नही देखते तबतक अुसे कभी सुन्दर नहीं मानते ।

हिन्दुस्तानका अितिहास अुज्ज्वल है, व्यापक है और रहस्यपूर्ण है । पर वह यूरोपियन अितिहाससे बिल्कुल भिन्न है । रवीन्द्रनाथने हमे बतलाया है कि वह सरकारी तहखानो और तवारीखोमे नही बल्कि अुस देशके साहित्य आदिमे मिल सकता है जहाँ राष्ट्रीय-जीवन सजीव रूपमे विद्यमान है । हमारी रगभूमि तरह-तरहके अुपकरणोंसे 'शो-रूम' का प्रदर्शन नही करती, अिसका कारण हमारा जगलीपन नही, परन्तु वह सर्वोच्च अभिरुचि है, जो यूरोपियन टीकाकारोकी कल्पनामे भी नही आसकती । पर हमें यह समझना भी रवीन्द्रनाथसे ही नसीबमे बदा था । हम नही जानते कि कालिदासका मेघ यक्षके सन्देशको अलकापुरी ले गया था या नही, किन्तु रवीन्द्रनाथने तो अुसीको अपना दूत बनाकर अुसके द्वारा हमे प्राचीन समयके भारतका साक्षात्कार कराया है । राष्ट्रीय हृदय जिसे स्वीकार करता है, वह काव्य अितिहासके पदको प्राप्त कर सकता है । यह अुन्होने रामायणकी मीमासा करके सिद्ध किया है । अिस तरह अनेक पद्धतियोसे अुन्होने सस्कृत-साहित्यका अुद्घाटन किया है ।

परन्तु रवीन्द्रनाथकी प्रतिभा सपूर्णरूपसे प्रकट हुअी है, अुनके कुमार-सम्भव और शाकुन्तलपरके निबन्धोमे । जर्मन कवि गेटेकी अेक-श्लोकी टीकाको लेकर कवीन्द्र चले है और अुन्होने अपनी अलौकिक शक्तिसे यह सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि किस तरह शाकुन्तल कालिदासकी सम्पूर्ण कृति है । शेक्सपियरके टेम्पेस्टके साथ शाकुन्तलकी तुलना करके शेक्स-

पियरके मुकाबिलेमे अुन्होने कालिदासकी अभिरुचि की श्रेष्ठता-को प्रकट करनेका मौका भी बडी अच्छी तरह लेलिया है। शाकुन्तलपर लिखा अुनका निबन्ध एक अपूर्व योग हे। कालि-दास, गेटे, शेक्सपियर और रवीन्द्रनाथ अिन चार प्रतिभा-सपन्न विश्वविख्यात-महाकवियोका कण्वाश्रममे सम्मिलित होना यह कुछ सामान्य वस्तु नही। कवियोकी वाणीमे कल्पनाओके चाहे जितने फव्वारे अुडते हो, तो भी वह वाणी खाली कल्पनामय नही होती। यह बात तो रवीन्द्रनाथने ही सबसे पहले अितनी सम्पूर्णतासे प्रकट की है। अुन्होने बताया कि अुसमे तो व्यक्ति-गत या सामाजिक जीवन-रहस्यका तत्त्वज्ञान होता है, समाज-शास्त्र और धर्म-शास्त्र, नीति-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र, अिनके अन्तिम सिद्धान्तोको तर्ककी दस्तदाजी और गडबडसे बचा-कर कविजन अपनी अपूर्व प्रतिभासे अुन्हे अनुप्राणित करते है, और जीवनके समान अेक सम्पूर्ण और सजीव कृतिका निर्माण करते है। 'जो यहाँ है सो वहाँ है, जो वहाँ है सो यहाँ है, सारी सृष्टि अेक-रूप है', ऋषियोके देखे हुअे अिस सिद्धान्तको कवि-जन हमारे सम्मुख मूर्तिमान खडाकर देते है। सस्कृतमे 'कवि' शब्दसे जो भाव मनमे अुत्पन्न होते है वे अग्रेजीमे 'पोअेट' शब्दसे नही होते। कवि अर्थात् द्रष्टा, जो जीवन-रहस्यको देखता है, जिसे अिह और पर-सृष्टि दोनो अेक-सी प्रत्यक्ष है, जो अतिवादमे अुतर सकता है, जो अिस ससारमे रहते हुअे भी अिस ससारका नही, वही कवि है। जो चर्म-चक्षुको दिखाअी नही देता, जिसका आकलन तर्क-दृष्टिसे नही होता, और जिसके लिये व्यावहारिक ससारमे प्रमाण नही मिलता अैसे अतीन्द्रिय, सूक्ष्म और स्वसवेद्य अनुभवोका सम्पूर्ण साक्षात्कार करके अुन सब अनुभवोको शब्द अथवा वर्णके समान मर्यादित साधनो द्वारा दूसरोके लिये भी प्रत्यक्ष कर सकता हे, वही कवि है। कवि वे है जो अिस सृष्टिकी—अिस बाह्य-सृष्टि और अन्त-सृष्टिको—आधार-स्वरूप अीश्वरी योजनाका, अीश्वरी लीला

और अीश्वरी आनन्दका साक्षात्कार कर सकते है। वैदिक ऋषि जब अीश्वरी-स्तुतिकी भूमिके शिखरपर पहुँच जाते हैं तब परमेश्वरको ही 'कवि' कहकर पुकारते हैं, अिस सृष्टिको अीश्वरका काव्य कहते है। अिसलिये कविका सीधा अर्थ निश्चित होता है सृष्टिका रहस्य जाननेवाला। कालिदासने जीवनके रहस्यको किस तरह पहचाना था यह न तो मल्लिनाथने जाना, और न जाना राघवभट्टने। अिस रहस्यको जान सके गेटे या रवीन्द्रनाथ ही।

कवियोकी कृतियो पर टीकाकार तो बहुत हो गये है, परन्तु 'काव्येर अुपेक्षिता'में रवीन्द्रनाथने जो रसिकता और दाक्षिण्य बतलाये हैं वे तो अपूर्व ही है। 'काव्येर अुपेक्षिता' अेक असाधारण टीका है। पर वह अुतना ही अप्रतिम काव्य भी है। रवीन्द्रनाथ अेक भी दूसरा निबन्ध न लिखते, केवल यही अेक निबन्ध लिख देते तो भी साहित्य-रसिकोको अुनकी काव्य-शक्तिका पूरा-पूरा पता लग जाता।

मार्मिक पाठकके लिये यह जान लेनेको किसी भारी प्रमाणकी आवश्यकता नही है कि 'चोखेर वाली' तथा 'नौका डूबी' अुसी कविके लिखे है जिसने 'काव्येर अुपेक्षिता'मे पत्रलेखोका विवेचन किया।

जो यह कहते है कि हमारे कवि सृष्टिका निरीक्षण करते ही नही अुन्ही पुरानी अुपमाओको दोहराते चले जाते हैं, वे न तो स्वय ही सृष्टिका निरीक्षण करते हैं और न काव्यका परीक्षण। यदि वे टीकाकार रवीन्द्रनाथका वह निबन्ध पढेगे, जिसमे अुन्होने कादम्बरीका दर्शन कराया है, तो अवश्य अुनका भ्रम दूर हो जायगा। साहित्यकार जो बाणभट्टकी कादम्बरीको नारिकेल-पाक कहते हैं, अुसका यह बढिया अुदाहरण है। बाणभट्टके काव्य-कान्तारमे गेटेके समान अकुतोभय सचार तो वही कर सकते है, वन-वराहके समान वहाँ मुस्ताक्षति भी वही कर सकते है, हरिणोके समान कल्पना-तृणाकुरोको अर्घ-विलीढ करके अितस्तत वही फेंक सकते हैं, अथवा अभिनवमधु-लोलुप भ्रमर-

के समान वे ही वहा स्वेच्छा-विहार कर सकते है, जिन्होने हिमालयके समान पर्वत और मेघना या पद्माके समान नदिया देखी है, अथवा जिन मनुष्योने पुष्प, पक्षी, तारे और लडकोके साथ खेलनेमे बरसो व्यतीत कर दिये है। सस्कृत-साहित्यमे अत सृष्टि और बाह्यसृष्टिका जो सारूप्य और तादात्म्य है, अुसका सम्पूर्ण दायित्व रवीन्द्रनाथको मिला है। अिसीसे कालिदास (बाणभट्ट और वाल्मीकिके समान कविजन) पुत्र-सक्रात-लक्ष्मीक पिताके समान कृतार्थ हो गये है।

जबसे हिन्दुस्तानमे 'यूनिवर्सिटी' स्थापित हुअी तबसे प्रत्येक ग्रन्थका बहिरग-परीक्षण करनेकी प्रणाली बहुत ही बढ गये है। काल-निर्णय, पाठ-भेदकी मीमासा, प्रक्षिप्तवाद खडा करना यह तो हम खूब सीख गये है, और यदि अेक ग्रन्थकारके नाम पर अनेक ग्रन्थ हो तो हम यह भी अनुमान करने लग गये है कि अेक ही नामके अनेक लेखक हो गये होगे, और अिन ग्रन्थोके लेखक भिन्न-भिन्न होगे। सत्यान्वेषणकी दृष्टिसे और अैतिहासिक दृष्टिसे भी यह सभी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण तो जरूर है। परन्तु यदि हम बगीचेकी लम्बाई, चौडाई, उसके भीतरके वृक्षोकी तफसील और गिनती आदि अूपरी बातोकी जानकारी करनेमे सम्पूर्ण समय लगा देगे और फूलोकी सुगन्धि और फलोका स्वाद लेना भूल जायँगे, तो दुष्यन्तके समान रसिक हमे अवश्य कहेगा कि, 'इन्द्रियैर्वञ्चितोऽसि'।

आज हम शिक्षाका आदर्श और शिक्षाकी प्रणालीमे परिवर्तन करना चाहते है। पाश्चात्य आदर्शको गुरु-स्थानमे रखकर अुस गुरुदृष्टिसे सस्कृत-साहित्यकी खोज करना हम नही चाहते। हम अपने प्राचीन कवियोके समीप शिष्य-भावसे समित्पाणी होकर जाना चाहते है। आस्तिक जिज्ञासासे अुनसे प्रश्न करना चाहते है। अैसे अवसर पर सस्कृत-साहित्यके विषयमे वह जान लेना परमावश्यक है, जो हमारे अुस कवि-

सम्राटने, जिसके लिअे हमे अभिमान है, कहा है।''[1]

: ८ :

पत्रकारकी दीक्षा

कअी साल हुअे, देश-विदेशके अखबार मै दिलचस्पीके साथ पढता था। पत्रकारके कार्य और कर्त्तव्यके विषयमे सोचता आया हूँ। बगभगके बादके राष्ट्रीय आन्दोलनमे पहले महाराष्ट्रके अेक स्थानीय साप्ताहिक पत्रके साथ और बादमे अेक दैनिक पत्रके साथ मैने अत्यन्त निकटका संबन्ध रखा था। अिस वक्तकी जनजागृति और आत्मशुद्धिके आन्दोलनमे भी 'नवजीवन' जैसे पत्रके साथ मेरा अुतना ही निकटका सम्बन्ध हो गया। और अगर अैसा कहूँ कि अिन दो आन्दोलनोके बीचके लम्बे अरसेमे विचार और कलमका ब्रह्मचर्य-पालन भी मैंने किया था, तो अुसमे अतिशयोक्ति न होगी। अिस तरह कहा जा सकता है कि पत्रकार-परिषद्के समक्ष अपने विचार रखनेका अितना अधिकार मैंने प्राप्त किया है। लेकिन यह भी सही है कि आजकल पत्रकारके व्यवसायका जो आदर्श बन रहा है अुसको दृष्टिके सामने रखते हुअे अिस धधेके लिये आवश्यक योग्यता अपनेमे लानेकी अिच्छा किसी दिन मेरे मनमे पैदा न हुअी। मुझे पहलेसे ही अैसा लगता आया है कि पत्रकारकी अपेक्षा शिक्षाशास्त्रीका कार्य अधिक अुपयोगी है। अिसलिये पत्रकारके लिये आवश्यक योग्यता मुझमे आयी ही नही। पत्रकारके लिये आवश्यक अेक गुण ही यह मुझे निबंध लिखनेकी प्रेरणा देता है। पत्रकार प्रधानतया विचार-प्रचारक होता है। विचारका प्रचार करनेकी, विचार 'ब्रॉडकॉस्ट' करनेकी वृत्ति कहिये या खाज कहिये—पत्रकारमे जितनी होती है अुतनी शायद ही किसी दूसरेमे होगी। धर्मोपदेशक और

१ कवीन्द्र रवीन्द्रके 'प्राचीन साहित्यके' गुजराती अनुवादकी भूमिका।

अध्यापकमे भी यह वृत्ति न्यूनाधिक मात्रामे जरूर होती है।

वास्तवमे देखा जाय तो धर्मोपदेशक, पत्रकार और शिक्षाशास्त्री तीनोका कार्य लगभग अेकसा ही है। सोयी हुअी जनता जब जागना चाहती है अुस वक्त तो पत्रकारके पदको असाधारण महत्त्व और अुत्तरदायित्व प्राप्त होता है। पत्रकार यानी लोकशिक्षाका आचार्य, ब्राह्मणोका ब्राह्मण और चारणोका चारण है। जनता जब युयुत्सु हो जाती है तब कअी बार पत्रकारको सैनिक और सेनापति भी बनना पडता है और अच्छी तरह क्षात्रधर्मकी भी तालीम लेनी पडती है जहा-जहा अन्याय होता हो, जहा-जहा दीन-दुर्बल और मूक वर्गोपर जुल्मो-सितम ढाया जाता हो वहा-वहा 'क्षतात्किल त्रायते' के अपने विरुदका स्मरण कर पत्रकार कूद पडता है। जब अैसे अवसर नही होते तब विचार, जानकारी, सस्कार, अभिरुचि और आदर्शोकी प्याअू चलाकर वह समाजसेवक बन जाता है। अज्ञान या अदूरदृष्टिके कारण लोग जहा लडते होगे वहा 'ज्ञानाजनशलाकया' लोगोकी दृष्टिको शुद्ध करनेकी वह कोशिश करता है। समाजचक्रके पहिये जब अपना अेकराग भूलकर चीत्कार करने लगते है तब अुचित स्थानपर स्नेह डालकर वह अुस घर्षणको दूर करता है, और जब-जब सरकार-दरबारके मौके आते है तबतब वह जनताका प्रतिनिधि बनकर लोकमतको अेकधारा बनाकर लोकशक्तिको सचेत करता है। अिस तरह लोकसेवक लोकप्रतिनिधि, लोकनायक और लोकगुरुकी चतुर्विध अुपाधि पत्रकार प्राप्त कर सकता है।

आजकलके वैश्ययुगमे पत्रकारका अेक और ही आदर्श बन रहा है और वह शिष्टसम्मत भी हो रहा है। 'हमारे सामने धर्मकी बाते मत किया करो, हम सिर्फ व्यवहार जानते है, आदर्शोके तारस्वरमे गानेको लोगोसे मत कहो, मध्यम या मन्द स्वरमे जो कुछ गवाना हो वही गानेको कहो, हमसे साधु या वीर बननेकी अपेक्षा मत रखो बल्कि हमे अैसी ही बाते सुझाओ

जो नफा और नुकसानका हिसाब करनेवाले कुटुंबीको पसन्द आयें या अनुकूल हो। दुनिया हमारी है। वीर और साधु लोग समाजके लिये शोभारूप तो हैं, लेकिन वह पगडी नही, बल्कि अुसकी किनारीपर की हुअी पच्चीकारीकी तरह है।' अिस आदर्शको स्वीकार करनेवाले लोग कहते हैं, 'पत्रकारको अपने आदर्शका मान व्यर्थ ही अूंचा नही रखना चाहिये। लोग जो कुछ चाहते हैं अुसे मुहैय्या करना ही पत्रकारका आदर्श होना चाहिये। लोगोके हम कोअी विद्यागुरु तो हैं नही कि अुन्हे मार-पीट कर पढायें। हम तो लोगोके खिदमतगार हैं। ग्राहकोको जिस मालकी ज़रूरत होगी वह देकर अुन्हे खुश रखना ही दुकान-दारका आदर्श है। गायकका आदर्श तो यही है कि राजा जो राग चाहे वह अुसका रजन करे। लोग हमारे शिष्य नही, सेठ हैं। जो सेठको सिखावन देने जाय वह नौकर कैसा? ग्राहक को जो धर्मशास्त्र या सयम सिखाने लगे वह दूकानदार कैसा?'

यहातक आगये तो फिर अैसी दूकानदारीका ज्ञान आगे चलता है। दूकानदार अिस बातका खयाल हमेशा नही करता कि ग्राहकको कौनसा माल चाहिये। बल्कि वह तो अिसी बात-का ध्यान रखता है कि अपने पास पडा हुआ माल ग्राहकको कैसे आवश्यक मालूम हो। वह अपने ग्राहकको सेठ माननेके बजाय शिकार मानता है और दुनियाको नीचे खीचता है। अुत्तर भारत-मे आज क्या चल रहा है? कअी पत्रकार ख़ालिस लडाई-झगडे-के दलाल बने हैं। अुन्होने निंदाके शराबखाने खोले है, राष्ट्रीय आपत्ति तथा साम्प्रदायिक गलतफहमियोकी पूंजीपर वह तिजा-रत करना चाहते है। लोककथामें जिस तरह गावका बकवादी अेक प्रधान पात्र होता है अुसी तरह यह पत्रकार-समाजके महा-पिशुन बनकर विचरते है। शेक्सपियरके आयागोने ऑथेल्लो और डेस्डिमोनाकी जो हालत कर डाली थी वही हालत ये लोग अिस भोले राष्ट्रकी करनेको तैयार हो गये हैं। फर्क अितना ही है कि आयागो अपने धधेका स्वरूप और परिणाम भली-भाँति

जानता था और जानबूझकर बदमाशी करता था। अिन सबकी स्थिति वैसी नही है। यह अभागे भाअी स्वय ही विकारमत्त हुअे है और यादवके (आपसी लडाअी) यादवोका अनुकरण कर रहे है।

पत्रकारकी वृत्ति अैसी खोजवाली नही होनी चाहिये कि जो कुछ मालूम हुआ, जाहिर कर दिया। अच्छे खानदानके मनुष्यके पेटमे कअी चीजे रहती है। लेकिन कुछ बातोमे वह होठ तक नही हिलाता। पत्रकारको कार्यानन्द खोजना चाहिये, न कि वादानन्दा। वरना कलमकी पटेबाजी अेक बार शुरू हो गयी तो फिर सारी दुनियाका सहार हो जायगा। विलायतमे तो जब आन्दोलनो और चर्चा-विषयोका अकाल पड जाता है तब पत्रकार अेक दूसरेके खिलाफ अभद्र टीका कर अेक-दूसरे पर जीवित रहते है। "भिक्षुको भिक्षुक दृष्ट्वा श्वानवत् गुर्गुरायते।"

२

अखबार प्रधानतया वृत्तपत्र होता है। जनता के लाभका विचार करके सारी दुनियाकी खबरे देना पत्रकारका प्रथम कर्तव्य है। लेकिन अिस बारेमे और अत्यन्त महत्त्वके बारेमे हमे औरोकी आँखोसे देखना पडता है। आकडे जिस तरह सरकारसे ही मिल सकते है अुस तरह जानकारी तो 'रॉयटर' या 'अेसोसिअेटेड प्रेस' से ही मिल सकती है। वह अपनी ही दृष्टिसे महत्त्वकी खबरे हमे दे देते है और धीरे-धीरे किस वस्तुको कितना महत्त्व देना, किस सवालको किस दृष्टिसे पेश करना आदि विषयोमे अपनी दृष्टि हमारे अूपर लादते है। शिक्षा और साहित्यकी तरह वृत्तविवेचन मे (जर्नलिज्म) भी हम विदेशियोके अनुयायी हो गये है। अुसके कारण आयी हुअी पर-प्रत्यय-नेय-बुद्धि (स्लेव मेन्टैलिटी) अभी नही गयी है। आज हमारे यहाँ अनेक पक्ष बन गये है और विचार-प्रगति नही हो रही है। अिसमे अिस पर-प्रत्ययके अवलबनका कम

हाथ नही है। और आश्चर्य यह है कि स्लेव मेन्टैलिटीके खिलाफ आवाज सभी बुलन्द करते है। वृत्तविवेचनका मूल-आधार विश्वासपात्र खबरें हैं। अुसका तत्र हमने बनाया ही नही है। बुनियादमे ही परावलबन !

जब मैने अग्रेजी पढना शुरू किया तब चार आनेमे 'टाअिम्स आफ अिंडिया' मिलता था जिसे पढनेकी मैं कोशिश करता था। हिन्दुस्तानकी सभी खबरे पढ जानेके बाद मुझे अैसा लगता कि क्या हिन्दुस्तानमे सिर्फ अग्रेज ही रहते होगे ? क्योकि सरकारी अधिकारियो और गोरोके सार्वजनिक और सामाजिक जीवनकी खबरे ही अुसमे ज्यादातर आती थी। मारपीट और हादसोके जिक्र आते तभी मालूम पडता कि गोरी तहके नीचे नेटिव लोगो-का काला समुद्र भी है। अिसमे आश्चर्यजनक या अनुचित जैसा कुछ भी नही कि अग्रेजी अखबार वही बातें देंगे जो गोरोकी दृष्टिसे महत्त्वकी हो। अगर हम अपना जीवन विकसित करना चाहते हो तो हमे अपनी निजी दृष्टिसे जानकारी देनी चाहिये। मालूम होता है कि बगाली लोगोने यह कला कुछ-कुछ सीख ली है।

अपने वृत्तविवेचनमे हम अग्रेजी पढी हुअी दुनियाका ही खयाल रखते है सरकार और अुसकी करतूते, विदेशके साथ-का व्यापार, अग्रेजी शिक्षा, अदालते, विद्वानोका साहित्य और पढे-लिखे वर्गके सुख-दुख यही हमारे वृत्तविवेचनके प्रमुख विषय होते है। हिन्दुस्तानकी जनता, हिन्दुस्तानकी कलाअे और कारीगर, किसानोका जीवन, गाँवोकी स्थिति, धर्मप्रचार, गरीबोका गृहजीवन, परिगणित जातियोकी अडचनें, आदि राष्ट्रीय जीवनके प्रधान प्रश्नोको आवश्यक प्रधानता हम देते ही नही। स्थानीय वृत्तपत्रका अेक भी अच्छा नमूना हमारे सामने नही है। हमारे सवाददाता देहातोमे जाते ही नही। वास्तवमे हालत तो अैसी होनी चाहिये कि प्रत्येक वृत्तपत्र गाँवो-के निवासियोमेसे समभाववाले कुछ सवाददाता खोजे, अुन्हे अुस

कलाकी धीरजके साथ शिक्षा दे और ग्रामीण जीवनकी चर्चामे दिलचस्पी ले। जिस तरह हमारी सभाओमे शहरवाली अुच्चासनपर बैठते है और बेचारे ग्रामप्रतिनिधि अपनी स्वाभाविक विनय धारण कर दूर कोनेमे किसी जगह बैठ जाते है, अुस तरह अखबारोमे भी लोकजीवनको अेकाध कोना ही मिल जाता है और वह भी हमेशा नही मिलता।

अब भी 'जब जागे तभी सवेरा' समझकर किसानो, जुलाहो कारीगरो, मजदूरो, स्त्रियो और बालकोंकी स्थितिका महत्त्व समझकर अुनकी दुर्दशा दूर करनेके लिये, अुन्हे तैयार करनेकी दृष्टिसे अुनके सवालोकी तरफ ध्यान देनेका व्रत पत्रकारोको लेना चाहिये। अबतक समाजसुधार और धर्मसस्करण जैसे महत्त्वके विषयोका विवेचन भी हमने मध्यम श्रेणीकी दृष्टिमे ही किया है। यह दु खकी बात है।

जैसे-जैसे पत्रकार ग्रामीण जीवनके विषय मे अधिकाधिक लिखते जायगे वैसे-वैसे प्रचारको, अुपदेशको, नेताओ और कूटनीतिज्ञोके लिये गाँवोकी मुलाकात लेना लाजिमी होगा। लेकिन वैसा होनेके लिये पत्रकारोके लेख स्थानीय रगसे रगे हुअे होने चाहिये। अुनमे स्थानीय अध्ययन और स्थानीय समभाव पूरी तरह होने चाहिये। 'सम्पादककी नजरसे' लिखे हुअे गोलमोल सामान्य सिद्धान्तोसे काम न चलेगा।

अच्छी तैयारीके साथ अगर अिस दिशामे प्रयत्न होने लगे तो यह व्यवहार घाटेका नही साबित हो सकता अैसे लेख लिखकर, कि जिन्हे पढकर लोगोको मजा आये और शिक्षा-शून्य मनोरजन हो, कुछ पत्रकारोने पाठकवर्गकी अभिरुचि बिगाड दी है। वरना अैसे वृत्त-विवेचनको, जिसमे जनताके हितकी चर्चा की गयी है, आवश्यक पारिश्रमिक दिये बिना जनता न रहेगी। फिर अखबार जेब भरनेका धधा तो हरगिज नही बनना चाहिये। अिन्साफकी खातिर, धर्मकी खातिर, लोक-कल्याणकी खातिर, लोकमतके खिलाफ जाना भी पत्रकारके

लिये अुचित होता है। विदेशियोंके जुल्मका वर्णन और अुसका निषेध लोकप्रिय हो सकता है, लेकिन अगर हम सामाजिक अन्यायों और कुरीतियोंके खिलाफ खडे हो जायँ तो लोग चिढ भी जाते हैं। खुशामदके आदि पाठक और लेखक अैसा वीरकर्म क्यों करने चलें? किसी महान् अन्यायके खिलाफ अभिमन्यु जैसा कोअी वीर अेकाकी असहाय लडता हो तो पत्रकारको अुसकी वगलमें खडा रहना ही चहिये। प्रतिष्ठाकी जाति वहुत वार सुयोग्य किन्तु प्रतिष्ठारहित मनुष्यको दवाकर रखनेकी खूव कोशिश करती है। पत्रकार अगर हिम्मतवान होगा तो वह प्रतिष्ठाकी जातिको तोडकर भी योग्यताका पुरस्कार करेगा।

जो वात व्यक्तिकी वही सस्थाओंकी। देशमें काम करनेवाली सस्थाओंके स्वरूपकी जानकारी प्राप्त करके अुसका परिचय लोगोंको कराना और सस्थाअें सुस्त न वनें अिसलिये अुनपर पहरा देते रहना पत्रकारका खास कर्त्तव्य है। देशमें जितना प्रत्यक्ष सार्वजनिक कार्य होता है अुसमें सहायक होना, अिसीमें वृत्तविवेचनाके सभी फर्ज समा जाते हैं। वृत्तिविवेचन अगर यह फर्ज अच्छी तरह अदा करे तो अुसकी शक्ति अितनी वढ जाती है कि जिस तरह सरकारें और विद्यापीठ योग्यताके लिये अुपाधियाँ देते हैं अुस तरह अखवार भी कर सकते है। फिर अैसी लोकमान्यताके आगे राजमान्यता तुच्छ हो जाती है।

कोअी भी विशाल और नया सवाल हाथमें लेना हो तो पहले मासिक पत्रिकाअें अुसका विवेचन करें और वादमें साप्ताहिक पत्र अुसे हाथमें लेलें। अैसा करनेसे विषय टेढे रास्ते नहीं जाता और काम भी नहीं विगडता। दैनिक पत्रोंके लिये अितनी मर्यादा आवश्यक है कि जो आन्दोलन चल रहा होगा अुसके वारेमें ही वे लिखें।

हमारे यहाँ दैनिक वृत्तपत्रोंका सपादकमंडल विशाल नहीं हुआ करता। वहुत वार राजा, प्रधान, सेनापति सभी अेक ही होते है। रोज अुठकर लेखपर लेख तो जनने ही पडते हैं। अैसी

हालतमे अगर समाजको कच्चा खाना परोसा गया तो आन्दोलनमे जरूर अैब निकलेगा। हमारे यहाँ विद्याव्यासंगी लोगोने नियमित रूप से अखबारोकी मदद करनेका रिवाज अभी तक ठीक ढंगसे प्रचलित नही किया है। जब अेक अखबारके पीछे भिन्न-भिन्न क्षेत्रोमे विशेष योग्यता रखनेवाले लोगोका अेक बडा मडल होगा और अुसकी निरपेक्ष सेवा सतत मिलती रहेगी तभी हमारा वृत्तविवेचन पुख्ता और समृद्ध होगा।

अिस आक्षेपके खिलाफ लेखक अैसी दलील पेश कर सकते है कि पत्रकारोमे विद्वान् बुजुर्गोके वचनको मान देनेकी वृत्ति है ही कहाँ कि अुन्हे हम सलाह दे ? असलमे देखा जाय तो सलाहकार या परामर्शदाता आग्रही सास बन जाय तो अुससे काम न चलेगा, और यह भी बर्दाश्त नही किया जा सकता कि पत्रकार पडितम्मन्य बने। हमारा सामाजिक जीवन खराब हो गया है और वही हालत हमारे सार्वजनिक जीवनकी भी हुअी है। सघशक्तिसे काम करनेके नियम अभी हमारे गले नही अुतरे है। नीतिके बन्धन शिथिल करनेमे, अभिरुचिके अुच्च आदर्शोको गिरानेमे और हर प्रकारके स्वच्छद या स्वैराचारको रूढ करनेमे अब तक अखबारोने कोअी कसर नही रखी है। जहाँ देखिये नये अखबार शुरू होते है, थोडासा जीवनकलह चलाते है, और ग्रैज्युअेटो (स्नातको) के विद्याव्यासग की तरह थोडे ही दिनोमे डूब जाते है। फिर सारा अुत्साह पक्षापक्षी या गुटबदियोमे ही रह जाता है। स्वतत्र मौलिक कल्पनाओका अकाल होनेपर भी प्रतिभाका दावा करनेवाला आडबरी साहित्य अितना कुछ बढ गया है कि अब साहित्य-सरक्षक-मडलकी स्थापना करनेका समय आ पहुँचा है।

३

पत्रकार दो प्रकारके होते है। कुछ तो वे है जो अपने पत्र द्वारा जितनी वाङ्मयीन सेवा होती है अुतनेसे सन्तोष मानकर बैठ जाते है। मतीलाल घोष, रामानन्द चट्टोपाध्याय और नटराजन

अिस वर्गके नमूने समझे जा सकते है। दूसरे वह हैं जो अमली देशकार्य करते समय अपने विचारोको प्रकट करनेके साधनके तौरपर अखवार चलाते हैं। गाधीजी, देशवन्धु, लाला लाजपतराय लोकमान्य तिलक आदि अिस वर्गके प्रतिनिधि है। प्रथम वर्गके पत्रकार विविधताके अुपासक होते हैं। प्रत्येकका कुछ-न-कुछ प्रमुख विषय होने पर भी वह सर्वांगी विचार-प्रचारके हिमायती हुआ करते है। दूसरे वर्गके लोग कार्य-परायण होनेसे जहाँ तक हो सके अेकाग्रता लाना चाहते है। दोनोका अुपयोग तो है, लेकिन अिन दो आदर्शोंकी मिलावट करना उचित नही है। प्रथम वर्गके पत्रकार अगर चाहे तो अपने अखवारको सस्कृतिका केन्द्र वनाकर अेक सम्प्रदाय या वन्धुसमाज तैयार कर सकते हैं। पुराने जमानेमे जो काम मन्दिर करते थे अुसी काम तक पत्रकार अपने पत्रको चढा सकता है। दूसरे वर्गके पत्रकार देशसेवकोकी अडिग सेना तैयार कर सकते है।

पत्रकारोका तीसरा अेक वर्ग है—तनख्वाहके खातिर चाहे जिस मतका प्रचार करनेवालोका। अमेरिकन नीग्रोके अेक स्कूलमे अेक शिक्षकको नौकरी पर रखते समय विद्यार्थियोके माँ-बापो-ने अुसे पूछा था, 'क्या तुम पृथ्वी गोल है अैसा सिखाओगे, या चौकोर है अैसा?' अुसने जवाव दिया, 'अिसमे या दूसरी किसी भी वातमे मेरा निजी तनिक भी आग्रह नही है, आपकी टाअुन कौन्सिल वहुमतसे जो कुछ निश्चित करेगी सो पढानेके लिये मै तैयार हूँ।' अैसे लोगोके हाथो क्या समाजसेवा होती होगी सो भगवान ही जाने।

पत्रकारके अलावा अेक नया वर्ग समाजमे पैदा होनेकी जरूरत है। अपने-अपने विषयमे या क्षेत्रमे जो-जो प्रवृत्ति चल रही हो, जो साहित्य प्रगट हुआ हो, नये-नये आविष्कार हुअे हो, निर्णय किये गये हो, वाद पैदा हुअे हो, नये-नये नमूनोका जन्म हुआ हो, अुन सवका वार्षिक सग्रह (अब्द-कोष) करनेका काम किसीको अपने सिरपर लेना चाहिये। सामाजिक जीवनके

कअी अुपाग जरूर अैसे है जिनके लिये साप्ताहिक तो क्या, स्वतत्र मासिक-पत्रिका भी नही चलायी जा सकती, मगर फिर भी जिनकी जानकारी मामूली अखबारोमे यदृच्छया आ जाय और बिखरी हुअी पडी रहे यह नही हो सकता। यदि कोअी 'वार्षिक' चलाता हो तो कुछ लोग अपने विषयकी सामग्री अुसके पास अवश्य भेज दे।

साहित्यचर्चा करनेवाली नही, किन्तु नये-पुराने सभी प्रकारके ग्रथोका सक्षिप्त परिचय करानेवाली अेकाध मासिक-पत्रिकाके लिये हमारी भाषामे अवश्य स्थान है। अिस तरहकी मासिक-पत्रिका विद्यार्थियो और आम लोगोके लिये बहुत ही कीमती साबित होगी और साहित्यका अितिहास लिखनेमे तो अुसकी सेवाका मूल्य आँकना मुश्किल ही है। यह तो बहुत लोग जानते है कि मेजिनीकी साहित्यसेवा अैसे प्रयत्नसे ही शुरू हुअी थी। अैसा कुछ नही है कि अैसी पत्रिकाओमे सिर्फ अपनी भाषाके साहित्यका ही परिचय आये। हिन्दुस्तानके दूसरे साहित्योको भी अुचित मात्रामे स्थान दिया जा सकता है।

सामान्य पाठक अगर अखबार और मासिक पत्रिकाओके बाहर जाते है तो अुपन्यासोमे अुतरनेके लिये ही। अिस तरहकी हालत जबतक अपने देशमे है तबतक सारी दुनियाकी जानकारी अुसके पूर्वापर-सम्बन्धके साथ देनेका प्रबन्ध लोकशिक्षाकी दृष्टिसे अत्यन्त आवश्यक है। दुनिया कहाँ-कहाँ फैली हुअी है, वहाँ क्या-क्या चलता है, प्रत्येक देशका दुखदर्द क्या है, दुनिया कहाँ तक आ पहुँची है अिसका खयाल हमारे लोगोको होना ही चाहिये। अिसमे भी हम बडी हदतक परावलबी रहेगे ही। यह अपरिहार्य है। फिर भी अपनी दृष्टिमे प्रत्येक वस्तुकी मात्रा और महत्त्व निश्चत कर लोकशिक्षाका काम शुरू तो करना ही चाहिये।

यह आश्चर्यकी ही बात है कि हमारे देशमे हमारा वृत्त-विवेचन ज्यादातर अग्रेजीमे ही चलता है। समर्थ लेखक अग्रेजी-

की ओर ही दौडते हैं, और जिनके लिये यह सारा प्रचार चल रहा है अुस जनताको अिसके फलसे वचित रहना पड़ता है, यह कितनी शर्म की वात है ! अिस शर्मकी तरफ हमारा ध्यान नही जाता। अगर ध्यान खीचा भी जाता है तो सच्ची वात गले नही अुतरती, अिससे अधिक दयनीय स्थिति और क्या हो सकती है ?

प्रादेशिक भाषाओमे जो अखवार चलते हैं अुनके पीछे तैयारिया वहुत-ही कम होती है। कहा जा सकता है कि पत्रकारोके लिये अत्यत आवश्यक जानकारी, समझमे आये अैसे रूपमे जिनमे दी हो अैसी कितावे हमारी भाषामे है ही नही। 'अिंडियन अियर वुक', 'अैन्युअल रजिस्टर', 'हूअिज हू', 'पिअर्स साअिक्लोपीडिया' 'कमर्शियल अैटलास','हैंडवुक आफ कमर्शियल अिन्फर्मेशन', आदि सर्वोपयोगी सादी कितावें भी देशी भाषाओमें अभी तक तैयार नही हुअी हैं। अिसलिये तथा अुचित अध्ययनके अभावमें देशी पत्रिकाअें अग्रेजी पत्रिकाओकी केवल नकल-जैसा वन गयी हैं।

वृत्तविवेचनपर जीनेवाला और वृत्तविवेचनको पोपण देनेका ढोग करनेवाला अेक भयकर रोग है 'विज्ञापन'। सार्वजनिक नीतिको भ्रष्ट करनेवाली और कौटुम्बिक अर्थशास्त्रको तोड डालनेवाली यह वुराअी अितनी फैल गयी है कि 'नवजीवन' द्वारा गाधीजीने अुसका जो अितना सख्त और सक्रिय विरोध किया है अुसका कुछ भी असर दूसरे अखवारो पर पडा हुआ दिखाअी नही देता। जव मै अखवारोपर अितने ही विज्ञापन देखता हूँ तव मनमे विचार आता है, क्या प्रभु-सेवाके लिये कोअी अुत्तम देवमन्दिर वनाकर वादमे अुसका खर्च चलानेके लिये अुसके अहातेके कमरे शरावखानो और वेश्याओको क़िरायेपर देने जैसा ही यह काम नही है ?

पत्रकारका व्यवसाय या वृत्तविवेचन अपने यहाँ यूरपसे आया है। जिस तरह वच्चे अपना चारित्र्य और आदर्श वनने

तक माँबाप या गुरुका अनुकरण करते है अुस तरह हमने अब तक विलायती 'जर्नलिज्म'का अनुकरण किया। अमेरिकन ढग दाखिल करनेकी भी कोशिश शुरू हो गयी है। क्या अभीतक अनुकरणका जमाना पूरा नही हुआ ? क्या स्वतत्र व्यक्तित्व लाने जैसा हमारे राष्ट्रमे कुछ है ही नही ? अगर हमारे पास सास्कारिक व्यक्तित्व है, अगर हममे अस्मिता जागृत हुअी है, तो अुसे पहचाननेका, अुसे विकसित करनेका और प्रकट करनेका समय क्या अब नही आया है ? हमारा सवाल सिर्फ राजनैतिक नही है अगर वह सिर्फ राजनैतिक होता तो वह कभीका सुलझ गया होता। जिस तरह दुनियाके लगभग सभी धर्म अिस देशमे अिकट्ठे हो गये है अुस तरह दुनियाके लगभग सभी सवाल अिस देशमे अिकटठे होने लगे हैं, हो गये हैं। अभी कुछ बाकी रहे होगे तो वह भी आ जानेवाले है। चारो तरफसे पानीकी बाढ आनेपर बेचैन और परेशान हुअे लोग जिस तरह अूंची-से-अूंची जगह खोजते है, अुसी तरह दुनियाके सभी सवाल, धर्म-धर्मके बीचके, जाति-जातिके बीचके, सामाजिक, आर्थिक, शिक्षासबधी सभी सवाल अिस देशमे अिकट्ठे होने लगे है और अुनकी चर्चा करनेका कर्त्तव्य पत्रकारोके सिर पर आ पडा है। अैसा तो है नही कि जो पत्रकार हुआ वह विचारक भी हो गया, लेकिन अुसे हर सवालका स्वरूप और गाभीर्य ठीक-ठीक समझ तो लेना ही चाहिये और श्रेष्ठ विचारकोने अुनके लिये क्या-क्या अुपाय सुझाये है या प्रयुक्त किये है अुनको सूक्ष्मतासे अध्ययन करनेके बाद यथाशक्ति, यथामति, अुन्हे देशके सामने पेश करना चाहिये। हमारे जीवनमे और अितिहासमे, धर्ममे और समाज-रचनामे अुसी दिशामे क्या-क्या अुपयोगी है अिसकी जाँच-पडताल करके अुसे दुनियाके सामने रखना अुनका काम है।

यह बात आसान नही है। दीर्घ अध्ययनसे मनुष्यमे विद्वत्ता आ जायगी, लेकिन शुद्ध और अुच्च जीवनके बिना दिव्य दृष्टि

और अडिग श्रद्धा नही आती। आजका जमाना ही अैसा है कि जितना मुमकिन हो, चढ जानेकी आवश्यकता है। शैतान लगभग सिरपर सवार हो चुका है। अुसे परास्त करनेके लिये देव-सेनाके सज्ज होनेकी आवश्यकता है। अैसे अिस अवसरपर पत्रकारोके सामने आज अेक वडा सवाल है कि वे कौनसा काम करें ?

अहमदावाद पत्रकार-परिषद,
नववर, १९२४

: ९ :

जीवन-विकासी संगठन

आजकलका कोअी भी मनुष्य लीजिये, अुसे स्वाभाविक रूपसे ही अदरसे अैसा लगता है कि हम सव किसी नये जमानेका, नये युगका, नये जीवनक्रमका प्रारम्भ कर रहे हैं। हम भले ही अैसा कहते आये हो कि भारतवर्ष अेक है, और हमारी सास्कृतिक अेकता मुख्य-मुख्य वातोमे स्पष्ट रूपसे भले ही दिखाअी देती हो, फिर भी हमें यह नही भूलना चाहिये कि आजतक हम छोटे-वडे गिरोहोमे ही रहते आये हैं। 'विविधतामे अेकता' हमारी सस्कृतिकी खासियत है। लेकिन हमने तो विविधताको अनेकधा फैलने दिया और अेकता लाना लगभग भूल ही गये। अिसलिये समाजमे वलके होते हुअे भी हम कमजोर सावित हुअे। और हम सवका रहन-सहन तथा विचारप्रणाली अेक-सी होते हुअे भी हम छिन्न-भिन्न हो गये।

मृत्यो' स मृत्युमाप्नोति य अिह नानेव पश्यति।

हमारे पितरोके पिता यमराजने कभीका कह दिया है कि जो व्यक्ति अपने जीवनमें केवल विविधताके ही पीछे पडता है वह जीवन-के अेकके वाद अेक क्षेत्रमे मृत्युके, क्षयके शिकजेमे फँस जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामे भी कहा है कि 'जो ज्ञानभेदभावको पोषण देता है और विविधताको ही पहचानता है वह समाजकी प्रगतिको रोक रखता है।' फिर कुछ लोग तो

वस्तुओका तारतम्य न जानकर क्षुद्र अेकागी वस्तुओको ही सर्वस्व मानकर नासमझदारी करने लगते है। अैसे लोग समाजको अधिकाधिक नीचे ले जाते है । जो लोगअेक ही प्रान्तको सारा देश मानते है, सस्कृतिके किसी अेक अगको ही जीवनसर्वस्व समझने लगते है, वह अपनी शक्तिका अुचित अपयोग नही कर सकते । किसी गाडीके सभी हिस्से-पुरजे साबुत है, लेकिन अगर वह अपनी-अपनी जगहोसे खिसक गये हो या ढीले पड गये हो तो वह गाडी भला कैसे यात्रा कर सकेगी ?

अेक जमाना था जब वेदोपासना, सस्कृतविद्या, भक्तिमार्ग, विरक्ति आदि महान् तत्त्वोके बलपर हम सास्कृतिक अेकता प्रस्थापित कर सके । लेकिन जैसे-जैसे युगोत्कर्ष होता जाता है वैसे-वैसे यह आवश्यक प्रतीत होता है कि समन्वयकारी तत्त्व अधिकाधिक व्यापक बने । परशुरामके समय ब्राह्मण-सगठन या क्षत्रिय-सगठन स्वाभाविक होगा, वेदकालमे आर्य-सगठन महत्त्वका हो गया होगा, छत्रपति शिवाजी महाराज या राणा प्रतापके समयमे हिन्दुसगठन अनिवार्य हुआ होगा, लेकिन आज तो अिसमे कोअी शक नही कि भारतीय सगठन ही अेक-मात्र युगधर्म है ।

अिस तरहका सगठन अलग-अलग क्षेत्रोमे कबका शुरू हो चुका है। अखिल भारतीय सस्थाअे तथा प्रवृत्तियाँ देशमे स्थान-स्थानपर दिखाअी देती है। शिक्षा और साहित्यके बारेमे तो प्रत्येक प्रान्त अेकाकी बन कर सिर्फ अपना ही विचार करता आया है ।

प्रान्तोके लिहाजसे शिक्षाका अलग-अलग प्रबन्ध हुआ, सरकारी विद्यापीठोकी स्थापना हुअी । अिन युनिवर्सिटियोने भारतीय तथा प्रान्तीय जीवन और सस्कृतिको कितना प्राधान्य दिया है यह तो हम देखते ही है ।

अगर अैसा कहा जाय कि साहित्यके बारे मे यहाँ सगठन जैसा कुछ नही है, तो अुसमे कोअी गलती न होगी । साहित्यको

अेक ही रस्सीसे बाँधना आसान नही। साहित्यका मुँह वद करना सहल होता है लेकिन प्रौढ-साहित्य वन्धन जैसी चीज वर्दाश्त नही कर सकता। किसी भी क्षेत्रकी वाल्यावस्थामें ही अुसके अूपर पराया अकुश टिक सकता है।

साहित्यमे कितनी शक्ति है अिसकी अधिकाधिक प्रतीति मनुष्य-जातिको होती जा रही है। साहित्य अेक प्रकारका चैतन्य है, सामाजिक तेज है, सकल्पकी अमोघ शक्तिकी सहायतासे मनुष्य चाहे जो भला-वुरा परिणाम निश्चित रूपसे ला सकता है। लेकिन यह दोधारी तलवार है। यह अेक रसायन होनेके कारण जो कोअी अिसे हजम करेगा अुसे यह अजरामर वनायेगा, लेकिन अगर अिसका दुरुपयोग किया जाय तो यह समूल अुच्छेद किये विना न रहेगा। अेक समय था जव लोग साहित्यका अुपयोग मोक्षसाधनके लिए करते थे। आगे चलकर सत्ताधारी और पैसेवाले लोगोके मनोविनोदके लिये साहित्यका अुपयोग होने लगा। अिस जमानेके सम्बन्धमे देशनिकालेकी सजा पाये हुअे अेक जर्मन यहूदी लेखकने कहा है—

"यह समय साहित्यकलाके लिये या साहित्यकारोके लिये वडा कठिन था। समाजमे यह विचार दृढ हो गया था कि साहित्यकारके मानी हैं घरमे पालने योग्य अेक गुणीजन। प्रत्यक्ष जीवनके साथ अुसका कोअी सम्बन्ध न रहता था। साहित्यकार क्रुद्ध हो या सन्तुष्ट, दोनो वाते अेकसी थीं। अुसके हथियार हवामें किये गये फायर या घुमाये हुअे पट्टेकी तरह थे। साहित्य विनोदका अेक अुत्कृष्ट साधन समझा जाता था। अिससे अधिक प्रतिष्ठा अुसकी न थी।"

और साहित्यकार भी अेक वात भूल गये कि सिर्फ शब्दकौशल या कल्पनावैभव अुनके धधेके लिए काफी नही है, अुसके लिये चारित्र्यकी आवश्यकता है। साहित्यकलाधर यह भूल गया कि अुस-अुस समय लोगोकी जो अभिरुचि रूढ हो गयी हो अुसका पोषण या अुसकी खिदमत करना धर्म नही, वल्कि सत्य,

न्याय, प्रसन्नता, सौन्दर्य, स्वातन्त्र्य, मानवी मन और चैतन्य अिन सनातन और सार्वभौम जीवनतत्त्वोंकी अनन्य निष्ठासे अुपासना उसका अुसका धर्म है। स्वधर्म-कर्मका भान भूल जानेके कारण वह सत्ताधारियोंके आश्रित परिवारमें गिना जाने लगा और जीवनके कठोर सत्य तथा वास्तविक परिस्थितिको भुला देना ही अुसका अेकमात्र कार्य बन गया। अिसी हेतु जनरंजन करनेवाले अनेक वर्गोंमेंसे वह अेक बन गया। अिस दुनियाके अत्यल्प मानवी जीवन-पथपर प्रकाश डालनेका कार्य छोड़कर वह अिस बातकी चिन्ता करने लगा कि समय किस तरह बिताया जाय। कलाको लोग, जैसा कि दक्षिण मे कहते है, 'कालक्षेपम्' समझने लगे।

अिसके परिणामस्वरूप यह धारणा फैल गयी कि पंडित आश्रयके बिना शोभा नही देता, और अिस तरह वह वनिता और लताकी श्रेणीमे जा बैठा। जो लोग खा-पीकर आरामसे रहते है अुनके पास अैशो-अिशरतके लिये विपुल समय रहता है। अैसे लोगोंका दिल अूब न जाय अिसलिये क्या-क्या किया जा सकता है अिस बातकी फिक्र करनेका काम ही अिन कला-धरोंके लिये रह गया। मानव जीवनका बोझ अुठाकर जो बेचारे केवल भारवाही ही बने है अैसे पामरोंको साहित्यका आस्वाद लेने जितनी फुरसत मिले भी कहाँसे? और जब कामका ही अकाल पड़ जानेकी वजह से अैसे लोगोंको फुरसतका वक्त मिलता है तब रोटीकी तीव्र चिन्ताके सामने साहित्य सूझे भी कहाँसे? भूखा आदमी व्याकरणसे पेट नही भर सकता, या प्यासा मनुष्य काव्यरसमे अपनी प्यास नही बुझा सकता। सारांश, साहित्यका निर्माण तो हो गया मगर वह कृतार्थ न हुआ।

अैसे समय जिन वर्गोंने साहित्यको आश्रय प्रदान किया अुनकी मनोवृत्ति अुसमे प्रतिबिंबित हुअे बिना कैसे रह सकती है? समाजके भीषण जीवनकलहके स्वरूपको बिलकुल बदल डालकर

अुसे नसीवका रूप दे दिया गया। प्रचड धार्मिक और सामाजिक विग्रहोको विदूषक जैसा हास्यास्पद भेरू चढाकर अुन्हे नाटकोमे अुपाख्यनोका स्थान दिया गया और मानवीके राग-द्वेपके अदम्य प्रवाहको विलकुल क्षुद्र वनाकर किस स्त्रीने किसके साथ अभिसार किया और किसे अिशारा किया, अिसीके वर्णन साहित्यमे सर्वत्र दिखाअी देने लगे।

अिस गढेमेसे साहित्यको अूपर निकालनेके लिये जनताके कुछ सेवाधुरीण अुपासक प्रयत्न कर रहे हैं। अैसे लोकसेवक साहित्यका अन्तरप्रान्तीय सगठन करना ही हमारा मुख्य अुद्देश्य है। परायी सस्कृतिकी अेकके वाद अेक वाढे आ जानेके कारण हमारे लोग अगर परेशान हो गये हो तो अुसमे कोअी आश्चर्य नही। लेकिन हर नयी वाढ अपने पानीके साथ जो पौष्टिक मिट्टी लाती है वही चैतन्यके अकुरके लिये सवसे अच्छा खाद वनता है। और फिर जीवनाकुर निकल आनेके वाद ही पूरी सत्रह आना फसल आ जाती है।

हमें लगता है कि हमारे देशके अितिहासमे अैसा समय अव आया है।

जव जमीन तैयार हुअी हो तव जो निर्भय होकर वीज नही वोता और दिलमे यह डर रखता है कि आजतक प्राणपणसे सभालकर रखे हुअे वीज जमीनमें वो दें तो वह कीचडमें पडकर सड जायगे और अिसीलिये पुरानी पूंजीकी रक्षा करनेमें ही वडा पुरुषार्थ है, वह आस्तिकताकी भाषामे क्यो न वोलता हो, वह वास्तवमे नास्तिक है, जीवनद्रोही है। मुर्देको सभालकर चैतन्यकी अुपसनाका द्रोह करनेवाला है। वह मुंहसे भले ही धर्मकी जय वोलता हो, लेकिन हाथसे काम तो अैसा करेगा जिससे धर्मका अचूक क्षय हो जाय। अव तो हमे धर्मके रक्षक नही वनना है, किन्तु धर्मसे रक्षण प्राप्त करना है। वेशक, यह धर्म पुरानी सडी-गली, या खोखली रूढिका नही, वल्कि चैतन्यका सनातन धर्म होगा।

यह धर्म लेनदेन करते कभी न हिचकिचायगा। जीनेके मानी ही है लेनदेन करना। जो देता और लेता है अुसपर वह जीवन-देवता प्रसन्न होता है। 'ददाति प्रतिगृह्णाति नान्यथैषा प्रसीदति', लेकिन देनेके मानी गुलामोकी तरह चुगी-कर, या जुर्मानेके तौर पर देना नही है, और लेनेके मानी भी फेके हुअे टुकडे भिखारी-की तरह अुठाना नही है। दुनियामे समानभावसे सबके साथ बराबरीके व्यक्तिकी तरह रहनेकी कला आनी चाहिये। यह साम्ययोग साधनके लिअे ही आपसी सहकारकी कला हस्तगत करनेकी आवश्यकता है। हमारे देशमे प्रत्येक प्रान्तकी कुछ-न-कुछ खासियत होती ही है। प्रान्तीय भेद स्पष्ट दिखाअी देते है, लेकिन संस्कृति तो प्रान्तोके अनुसार अलग-अलग नही हुआ करती। संगीतके किसी समृद्ध और संपूर्ण रागमे जिस तरह आरोही और अवरोही स्वरोमे भिन्नता होती है अुसी तरहकी भिन्नता हमारे विविध प्रान्तो तथा अुनके अलग-अलग वर्गो-मे है।

जिस समय राष्ट्रका आत्मविश्वास बिल्कुल अुड गया था, अुसमे किसी तरहकी हिम्मत नही बची थी अुस समय कुछ लोग विदेशियोका केवल अनुकरण करनेका अुपदेश देने लगे और कुछ अुनका विरोध करके कहने लगे कि पुराने मुर्दोको मसाले मे ढककर, अुनकी ममी बनाकर अुनकी पूजा करनी चाहिये। हमारे यहाँ यह झगडा बरसोतक चला, लेकिन बादमे सच्ची जागृतिका अुदय होते ही पुरानी पूजीपर जीनेकी या डिब्बेमे पैक होकर मिलनेवाली विदेशी खुराकपर गुजारा चलानेकी बिलकुल आवश्यकता नही रही। अपनी जमीनको घरका तथा बाहरका खाद देकर नयी फसल तैयार करना जरूरी है यह बात अक्ल-मद लोगोके मनमे बैठ गयी। कष्टपूर्वक जमीनको जोतकर ताजी फसल लेनेमे ही राष्ट्र-जीवनके लिये आवश्यक सभी विटै-मिन्स मिल सकते है अितनी सादी बात भी हमारे गले अुतरते दो पीढियाँ राह देखनी पडी। और अिसीलिये अन्तरप्रान्तीय-

संगठनकी जरूरत हमे आजतक न महसूस हुआी। स्वावलंबन-का प्रयत्न करते समय आपसी सरकार जरूरत मालूम होने लगती है। परावलंबनमें केवल नाथ-निष्ठा पूरी तरह हो तो काफी है। अब, जब कि हम निजी अनुभवका महत्त्व समझकर पराक्रम या पुरुषार्थ करने लगे हैं, अुस समय, अेकदूसरेकी सलाह लेनेकी जरूरत हम महसूस करने लगे हैं।

मनुष्य प्रयोगवीर न हो, अनुभवपरायण न हो तो 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्व पूर्वै पूर्वतर कृतम्' अिस तरहकी पूर्वानुसारी वृत्तिके वह आदी बन जाते है। अुस जमानेमे हमने बाहरके गुरु बहुतसे किये लेकिन आत्म-गुरुकी शोध नही की।

राजनीतिमें पहले-पहल सन् १८५७ अीसवीमे हमने पुराने ढगसे अेक सीधी सादी बगावत कर देखी। अुसके बाद राज्य-कर्त्ताओका अितिहास पढकर अुन्हीका अनुकरण शुरू किया। पहले हम आशा करते थे कि लिबरल पक्षके लोग अच्छे हैं। अुन्हीके हाथो हमारा कल्याण होनेवाला है। हमे जब अनुभव हुआ कि यह आशा दुराशा है, तब हमने मजदूर-पक्षका दामन पकडा। अुसी जमानेमें फ्रांस, अिटली, अमरीका आदि देशोका अितिहास पढकर अुससे प्रेरणा पानेकी हमने कोशिश की। अितनेमे रूसकी प्रगतिसे सारी दुनिया चकाचौंध हो गयी और हमें मालूम हुआ कि अुस देशमे जो क्रान्ति हुआी वह अिति-हाससिद्ध शास्त्रकी मजबूत बुनियादपर खडी हुआी है।

गुरुमंत्र चाहे जिससे लिया जाय, लेकिन अगर वह आत्म-सात् न किया जा सके तो अुससे सामर्थ्य प्राप्ति नही हो सकती। साहित्यके बारेमे भी अनुकरण तथा अुधार लेनेकी कुछ मर्यादा होती है। किसी ग्रन्थका स्वभाषामे अनुवाद किया जाय और अगर लोग अुसे न समझ सके तो अुससे क्या फायदा? और समझमें आये तो भी अगर सहानुभूति न पैदा हो, वह किसीको आकर्षक न लगे, तो अुसे व्यर्थ ही समझना चाहिये। फर्ज कीजिये कि वह आकर्षक भी बन गया लेकिन अगर वह लोगोंके

मानसमे प्रवेश न करे, विचारप्रणाली पर असर न करे, लोगोके जीवनमे या अुनकी निजी भाषामे न अुतरे तो अुसे निष्फल ही समझना चाहिये। साहित्यकी शक्ति अद्भुत हे, लेकिन वह रसायन जैसी है। केवल साहित्यपठनसे या दूसरोसे आदर्श और अनुभव अुधार लेनेसे ज्यादा-से-ज्यादा साहित्यक्षेत्र समृद्ध हो जायगा, लेकिन अुसमेसे जीवन-साफल्य शायद ही निष्पन्न होगा।

जब जीवन समृद्ध, व्यापक और गभीर होगा तभी अूपरके गुण साहित्यमे उतरेगे। शोध-खोज, पराक्रम, प्रवास, व्यापार, हुनर, कलाकौशल, निरीक्षण, परीक्षण, नवनिर्मिति आदि बातो-मे जब समाज मोर्चेपर होता है, जब अुसकी महत्त्वाकाक्षा अुत्तुग हो जाती है और कर्तव्यबुद्धि भेदक होती है तभी साहित्य जोरदार बनता है।

अिस तरहका पोषण साहित्यको अब मिलने लगा है लेकिन जीवनको भुलाकर, जीवनसे द्रोह करके केवल साहित्यका पोषण हमे नही करना है। जीवनके लिये साहित्य है। जीवन-मेसे साहित्यका अुद्गम है और साहित्यका फल भी सस्कारी तथा समर्थ जीवन ही है। विविधतामेसे अैक्य प्रस्थापित करनेका हमारा जो जीवनमत्र है अुसे साहित्यमे भी स्पष्ट तथा पूर्ण रूपसे व्यक्त करना है। और अिसलिये सर्वसमन्वय ही हमारा ध्यान-मत्र है।

कुछ लोगोको अैसा लगता है कि अनेक चीजोकी खिचडी बनानेसे समन्वय हो जाता है, जब कि दूसरे कुछ लोगोकाखयाल है कि किसी अेक विशेष वस्तुको स्वीकार करके अुसका विस्तार करना और बाकीकी वस्तुओको तिलाजलि देना ही अेकताका अेकमात्र साधन है। लेकिन यह दोनो दृष्टियाँ भूलभरी है। बिना विविधताके अैक्यमे कुछ अर्थ ही नही। विविध घटकोका अुनका अपना स्वत्त्व अुचित मात्रामे न रखा जाय तो फिर समन्वय ही किसका करे? यह सही है कि स्वत्त्व-रक्षा और समन्वय अेक

दूसरेके विरोधी तत्त्व मालूम होते है, वह आसानीसे अेकदूसरेमें नही मिलते, लेकिन समाजको योग्य साधना करके यह समन्वय शक्ति अपनानी होती है। कभी भूलें होगी, कभी पीढियोका वलिदान देना पडेगा, लेकिन स्वत्त्व-रक्षा और समन्वय दोनोकी अेक साथ अुपासना हो जाय तो अुसमेंसे जीवनके दिव्य स्फुल्लिग निकले विना कभी नही रह सकते। अिसीका दूसरा नाम है जीवन-रसायन।

सिर्फ खिचडी वनानेसे कभी-कभी अनिष्ट चीजे ही पैदा होती है। वाजारमे सभी वस्तुअें अेकत्रित होती है, लेकिन दूकानको कोअी घर नही कहता। पुस्तकोकी दूकानको पुस्तकालय नही कहा जा सकता।

जैसा कि हम अूपर कह गये हैं, जीवन ही साहित्यका क्षेत्र है। अिसलिये जीवनके सभी क्षेत्र हमारे चिन्तनके विषय हैं। लेकिन अिन क्षेत्रोमेंसे अेक वहुत ही महत्वके और व्यापक क्षेत्रको हम फिलहाल जान-वूझकर अलग रखनेवाले हैं। राजनीतिकी अुच्च भूमिकापरसे चर्ची जानेवाली राजनीतिकी हमारे कल्पित साहित्यमे कोअी वाधा नही है। लेकिन वर्तमान परिस्थितिमे यही अिष्ट है कि हम अपनी भावनाअे मौन-द्वारा व्यक्त करें। आज देशमे सवको अेकत्र लानेकी वहुत जरूरत है। धर्माभिमान, जात्यभिमान, प्रान्ताभिमान और राजनैतिक पक्षभेद आदि वातोसे हमारी मनोवृत्तियाँ अितनी प्रक्षुब्ध, संकुचित और वुद्धिविमुख हो जाती है कि अुससे सास्कृतिक सगठन अधिकाधिक मुश्किल हो जाता है। जहाँ दिल खोलकर वात नही की जा सकती वहाँ मौन रखना अच्छा है। डरते-डरते या किसीके दवावमे आकर झूठ-सचका मिश्रण करनेमें या टेढे ढगसे वोलनेमे सत्यका पालन नही है, सामर्थ्य नही है, तेजस्विता नही है और मानसिक सन्तोष तो हरगिज नही है। और परिणाम देखते जाओ तो शून्य! अिन सव कारणोंसे हमने अपनी प्रवृत्तिको राजनीतिसे अलिप्त रखना ही पसन्द किया है।

जहाँतक हो सके, व्यक्तिगत आलोचन भी टालनेका हमारा निश्चय है। जहाँ सभी स्खलनशील हो वहाँ कौन किसका अुपहास करे। पहला पत्थर कौनमारे ? फिर व्यक्तिगत टीका करनेसे न टीका करनेवालोको लाभ होता है, न सुधरता टीकाका विषय हुआ व्यक्ति। वह या तो चिढ जायगा या नाअुम्मीद होकर निराश हो जायगा। परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन अधिकाधिक नीचे गिरता जाता हे अैसा सार्वत्रिक अनुभव है।

कुछ लोग कहते है कि साहित्य जीवनका समालोचन है। बात सही हे, लेकिन अुसमे सारा सत्य नही आ जाता। साहित्य जीवनकी पुनर्घटना है, नवसर्जन है और कभी-कभी वह जीवन-प्रेरणा भी होता है। यह सब आदर्श हमारी दृष्टिके सामने है।

भारतीय साहित्य-सगठनका मुख्य कार्य तो राष्ट्रभाषाद्वाराही चलेगा। लेकिन अुसका सन्देश अपने-अपने प्रान्तोमे अपने-अपने ढगसे पहुँचानेका काम प्रान्तीय भाषाओको ही करना है। सब मिलकर अेक ही पक्तिमे भोजन करने बैठे हो तो भी प्रत्येक व्यक्तिको अपनी भूख, स्वास्थ्य और अभिरुचिका विचार करके यह निश्चित करना पडता हे कि क्या खाना है, कितना खाना है और किस तरह खाना है। अिसी तरह प्रान्तीय भाषाओको करना पडेगा।

और सब कुछ देना हो तो भी देते समय शबरीकी तरह हर बेर अच्छी तरह देख-भालकर समर्पित करना अच्छा है। दूसरे अेक ढगमे भी सोचा जा सकता है। हम 'महाराष्ट्रीय साहित्य' या 'भारतीय साहित्य' जैसे शब्दोका अिस्तेमाल करते है। 'महाराष्ट्रीय सस्कृति', 'भारतीय सस्कृति' जैसे शब्दोका भी हम प्रयोग करते है। लेकिन साहित्य या सस्कृतिको अेकरूप बनानेका हमने कभी प्रयत्न किया है ?

'मराठी बोलनेवाले सभी महाराष्ट्री है,' यह परिभाषा तो ठीक है, लेकिन मराठी बोलनेवाले हम सब अेक है, अेक-दूसरे-के है अिस प्रकारकी वृत्ति जागृत करनेके लिये या अुसे दृढ करनेके

लिये क्या हमने साहित्यमे कोअी प्रयत्न किया है ? अेक-दूसरे-की टीकाटिप्पणी करके, अेक-दूसरेके दोष जाहिर करके हमने अेक-दूसरेकी सेवा की है अैसा शायद हम मानते होगे, लेकिन अैसा करनेसे क्या हृदयोका मिलन हुआ है ? क्या अेसा विश्वास अेक-दूसरेके मनमे पैदा हुआ है कि सकटके समय अपनी मदद-के लिये कोअी-न-कोअी जरूर दौडा आयगा ? क्या यह अर्थ हमारे यहाँ हुआ है कि 'महाराष्ट्रका अभिमान'के मानी सिर्फ 'मै और मेरा'का ही अभिमान नही वलिक सभी महाराष्ट्रियोके प्रति अपनापन, सवके प्रति प्रेम है ? अैसी भावना हो या न हो, अगर वह पैदा करनेकी धुन हो तभी भारतीय साहित्यके संगठन-की कल्पना और आस्था हममे अुत्पन्न होनेवाली है ।

नववर, १९३६

: १० :
रस-समीक्षा

विचार करनेसे मालूम होगा कि साहित्य, सगीत और कला तीनो भावनाके ही क्षेत्र होनेसे तीनोके अन्दर समानेवाली वस्तु अेक ही हो सकती है, अुसे हम रस कहते है । साहित्याचार्योने रसचर्चा तो अनेक प्रकारसे की है । सगीतमे यह देखा जाता है कि राग और तालके अनुसार रसमें परिवर्तन होता जाता है । चित्रकलामे नवरसके भिन्न-भिन्न प्रसग चित्रित किये जाते हैं । रेखाओकी सवलता द्वारा तथा वर्णोके साहचर्यसे रस व्यक्त किये जाते है । मूर्तिविधान, स्थापत्य, नृत्य आदि विविध कलाओ द्वारा भी अन्तमे रसोकी ही अभिव्यक्ति करनी होती है । लेकिन अव तक साहित्य, सगीत और कलाओकी दृष्टिसे—अर्थात् जीवनकलाकी समस्त यानी सार्वभौम दृष्टिसे—रसका विवेचन किसीने नही किया है । साहित्याचार्योने जो विवेचन किया है अुसे स्वीकार करके और अुमका सस्करण करके अुसे व्यापक वनानेकी जरूरत है ।

यह जरूरी नही है कि पूर्वाचार्योने जिन नौ रसोका वर्णन किया है अुनके वही नाम और अुतनी ही संख्या हम मान ले। अब अिस बातकी स्वतन्त्रतापूर्वक मीमांसा होनी चाहिये कि संस्कारी जीवनमे कलात्मक रस कौन-कौन-से है।

हमारे यहाँ शृङ्गारको रसराज कहा गया है। अुसे अग्रपूजाका मान है। लेकिन वास्तवमे वह सर्वोच्च रस नही कहा जा सकता। प्राणिमात्रमे नर-मादाका अेक दूसरेके प्रति आकर्षण होता है। प्रकृतिने अिस आकर्षणको अितना अधिक अुन्मादकारी बना दिया है कि अुसके आगे मनुष्यकी सारी होशियारी, सारा संयम और सब विवेक नष्ट हो जाता है। हम यह सवाल यहाँ न छेडे कि अिस आकर्षणको अुत्तेजन देना आवश्यक है या नही। पर अिस आकर्षण और प्रेमके बीच जो सम्बन्ध है अुसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। पहले हमें अिसका निश्चय कर लेना चाहिये कि नर-मादाके आपसी आकर्षणमे अेक-दूसरेके प्रति यथार्थमे प्रेम होता है या अहंप्रेमकी तृप्तिके साधनरूप ही वह अेक-दूसरेकी तरफ देखते है। प्रकृतिकी रचना कुछ अैसी है कि काम-वासनाका प्रारंभ अहंप्रेमसे होता है। लेकिन अगर यह काम धर्ममार्गसे चले तो वह विशुद्ध प्रेममे परिणत हो जाता है। विशुद्ध प्रेममे आत्मविलोपन, सेवा और आत्मबलिदानकी ही प्रधानता रहती है। कामको विकार कहा गया है, प्रेमको कोअी विकार नही कहता, क्योंकि अुसके पीछे हृदयधर्मकी अुदात्तता होती है। यहाँ धर्मके मानी रूढिधर्म या शास्त्रधर्म नही, किन्तु आत्माके स्वभावके अनुसार प्रकट होनेवाला हृदय-धर्म है।

शृङ्गार मूलत भोगप्रधान होता है। लेकिन हृदय-धर्मकी रासायनिक क्रियासे वह भावना-प्रधान बन जाता है। यह रसायन और परिणति ही काव्यका, कलाका विषय हो सकती है। प्राचीन नाट्यकारोने जिस तरह नाटकोमे रंगमंचपर भोजन-का दृश्य दिखानेका निषेध किया है अुसी तरह भोगप्रधान

शृङ्गार चेष्टाओको भी खुल्लमखुल्ला वतलानेकी मुमानियत कर दी है। यह तो कोअी नही कह सकता कि नाट्यशास्त्रोको खाने-पीनेसे या रतिसुखसे घृणा थी। देह-धर्मके अनुसार अिन वस्तुओके प्रति स्वाभाविक आकर्षण तो रहेगा ही, पर वैसी घटनाअें और वैसे आकर्षण कलाका विषय नही हो सकते। यह कहनेके लिये कि कलाकृतिमें अुस वस्तुको स्थान नही होना चाहिये किसी प्रकारकी वैराग्यवृत्तिकी आवश्यकता नही है। अुसके लिये सिर्फ सस्कारिता हो तो काफी है।

प्रेमरसका शुद्ध वर्णन हमे भवभूतिके 'अुत्तररामचरित्र'मे मिलता है। 'शाकुन्तल'मे प्रेमका प्राथमिक शृङ्गारिक स्वरूप भी है और अन्तका परिणत विशुद्ध रूप भी। वास्तवमे देखा जाय तो प्रेमको ही रसराजकी अुपाधि मिलनी चाहिये। शृङ्गार-को तो केवल अुसका आलम्वन-विभाव कहा जा सकता है। शृङ्गारके वर्णनसे मनुष्यकी चित्तवृत्तिको आसानीसे अुद्दीपित किया जा सकता है। अिसीलिये सव देशो और सव जमानेमे कलामात्रमे शृङ्गारको प्रधानता प्राप्त हुअी दिखाअी देती है। जैसे ऋतुओमे वसन्त, वैसे रसोमें शृङ्गार अुन्मादकारी होता ही है। जिस तरह लोगोकी या व्यक्तिकी खुशामद करके वातचीतका रस वडी आसानीसे निभाया जा सकता है अुसी तरह शृङ्गार-रसको जागृत करके वहुत थोडीसी पूजीपर कला-कृतियोको आकर्षक वनाया जा सकता है।

सच्चे प्रेमरसमे अपने व्यक्तित्वको भुलाकर दूसरेके साथ तादात्म्यका अनुभव करना होता है। अिसीलिये प्रेमरसमे आत्म-विलोपन और सेवाकी प्रधानता होती है। प्रेम आत्माका गुण है, अिसीलिये वह देहपर विजय प्राप्त करता है। प्रेम ही आत्मा है। सभी प्रेमियो, भक्तो और वेदान्ती दर्शनकारोने यह वात स्पष्ट कर दी है कि अमर प्रेमसे आत्मा भिन्न है ही नही। वीररस भी अपने शुद्ध रूपमे आत्मविकासका ही सूचन करता है। सामान्य स्वस्थ स्थितिमे मनुष्य अपने आत्मतत्त्वकी

अुत्कटताका अनुभव नही करता। क्योकि वह देहके साथ अेकरूप होता है। लेकिन जब असाधारण अवसरके कारण खरी कसौटीका वक्त आ जाता है तब मनुष्य अपने शरीरके बन्धनोमे अूचा चढता है। अिसीमे वीररसकी अुत्पत्ति है।

प्रतिपक्षीका द्वेष, अुसके प्रति क्रूरता, अुसके विरुद्ध अहकारका प्रदर्शन आदिमे वीररस समाया हुआ नही है। लोकव्यवहारमे कअी बार यह सब हीन भावनाअे वीरकर्ममे मिली हुअी होती हैं। वैसा होना कभी-कभी अपरिहार्य भी हो जाता है। लेकिन यह जरूरी नही कि साहित्यमे अुन्हे स्थान हो ही। साहित्य वास्तविक जीवनका कोअी सपूर्ण फोटोग्राफ नही हुआ करता। साहित्यमे वही चीजे लानी होती है जिनकी तरफ ध्यान खीचना आवश्यक हो। अिष्ट वस्तुको आगे लाना और अनिष्ट वस्तुओको दबा देना साहित्य और कलाकी आत्मा है। अिस पुरस्कार और तिरस्कारके बिना कलाकी सभावना ही नही होती। वीररसके लिये जो कुछ हानिकर हो अुसे साहित्यमेसे निकाल देना चाहिये। तभी वह साहित्य कलापूर्ण होगा।

लोक-व्यवहारमे वीररस अमुक आर्यता चाहता ही है। पशुओमे शौर्य होता है पर वीर्य नही होता। जानवर जब जोशमे आकर आपेसे बाहर हो जाते है तब वे आपसमे अधाधुध लड पडते है। लेकिन अुनमे डरका तनिक भी प्रवेश हो जाय तो दुम दबाकर भागनेमे अुन्हे देर नही लगती। भयकी लज्जा तो वह जानते ही नही। भयकी लज्जा आत्माका गुण है। जानवरोमे वह नही हुआ करती। आवेश हो या न हो, तीव्र कर्त्तव्य-बुद्धिके कारण अथवा आर्यत्वके विकसित होनेसे मनुष्य भयपर विजय प्राप्त करता है। आलस्य, सुखोपभोग, भय, स्वार्थ अिन सबको त्यागकर, चमडी बचानेकी वृत्तिसे मुक्त हो, आत्मबलिदानके लिये जब मनुष्य तैयार हो जाता है तब वह जड पर——अपनी देहपर विजय प्राप्त करके आत्मगुणका अुत्कर्ष बताता है। अैसा वीर-कर्म, अैसी वीर-वृत्ति देखने या सुननेवालेके

हृदयमें भी समान भाव-समभावको जागृत करती है यही वीर-रसका आकर्षण और सफलता है।

वीरोका वीरकर्म देखनेके वाद—हमारी वाजूमे वीर या वीर-समूह खडा है अिसलिये हम सही-सलामत हैं, अव भयका कोअी कारण नही—अिस तरहका सन्तोष भी दुर्वलो तथा अवलाओको मिलता है। अिसे वीर-रसका कोअी सर्वोच्च परिणाम या फल नही कहा जा सकता।

जिस जमानेमे मनुष्य अपनी देहका मोह करनेवाला, फूक-फूककर कदम रखनेवाला और घर-घुसा वन जाता है अुस जमानेमें वह वीरोका वखान करके, अुन्हे अुभाडकर या अुनकी वहादुरीकी तारीफके पुल वांधकर अुनके हाथो अपने लिये सुरक्षा प्राप्त करता है। अैसोके समाजमें वीररसकी, वीरकाव्यकी, जो चाह होती है, प्रतिष्ठा होती है अुस परसे यह न समझ लिया जाय कि अुस समाजमें आर्यत्वका अुत्कर्ष होने लगा है। जव ववअीमें लोकमान्य तिलकपर मुकद्दमा चल रहा था तव वहाँके मिल-मज़दूरोने वडा दगा किया था। अुनका वह तूफान देखकर मध्यम वर्ग तथा व्यापारी वर्गके कअी लोग घरोंके अन्दर छिप वैठे। जव अुस आन्दोलनका दमन करनेके लिये सरकारी फौज आयी तव अुसे देख वे लोग मारे खुशीके जयध्वनि करने लगे और अपने हाथोके रूमाल अुछालने लगे। फौजके अुन वीरोका स्वागत-सम्मान करते समय अुनके मुहसे जो वीर-गान निकला अुससे यह नही कहा जा सकता कि अुस समाजके वीरत्वकी वृद्धि हुअी। यह आंखो देखी घटना है, अिसलिये अुसका असर दिलपर कायम रह गया है।

वीररसकी कद्र अगर वीर करें तो वह अेक वात है, और रक्षण या आश्रय चाहनेवाले करें तो वह दूसरी वात है। वीर हमेशा वीररसको शुद्ध रखनेकी फिक्र रखता है जवकि आश्रयपारायण लोग प्राण-त्राण-पेलव होनेसे आर्य-अनार्य-वृत्तिका विवेक रखे विना रक्षणकर्ताके प्रति नाथ-निष्ठा रखकर

अुसके सभी गुणदोषोको अुज्ज्वल रूपमे ही देखते है ।

वीरवृत्तिसे ही वैरवृत्ति जागृत होती है । अिसका कोओी अिलाज न देखकर आर्य-धर्म-कारोने अिसकी मर्यादा बाँध दी है कि 'मरणान्तानि वैराणि' । शत्रुके मर जानेके बाद अुसकी देहको लात मारना, अुसके शरीरके टुकडे-टुकडे करना, अुसके आश्रितोको सताना, अुनकी स्त्रियोका अपना बनाना, यह सब अेक आर्यवीरके लिये शोभा देनेवाला नही है । वीर पुरुषोने यह देख लिया था कि अिस तरह के बर्तावसे मरे हुअे शत्रुका अपमान नही होता बल्कि अपने वीरत्वको ही बट्टा लगता है । आर्य साहित्याचार्यों, कवियो और कलाकारोने यह कह रखा है कि अगर दुश्मनी करनी हो तो अैसे आदमीके साथ करो जो अपने लायक हो, और अुसे हरानेके बाद अुसकी कद्र करके अुसकी प्रतिष्ठाको बनाये रखो और अिस तरह अपना गौरव बढाओ ।

वीरवृत्तिका परिचय मनुष्यके ही विरोधमे नही दिया जाता बल्कि सृष्टिके कुपित होनेपर भी मनुष्य अपनी अुस वृत्तिको विकसित कर सकता है । जब मेरा शत्रु तलवार निकालकर मेरे सामने खडा हो तब केवल आत्मरक्षाकी दृष्टिसे भी मुझे अपनी सारी शक्तिको अेकत्रित करके अुसका मुकाबला करना पडता है । अुस वक्त अगर मै लडाकू वृत्ति न रखूं तो जाअूं कहाँ ? सिंहगढकी दीवारपर चढकर अुदयभानुके साथ संग्राम करनेवाली तानाजीकी फौज जब हिम्मत हारने लगी तब ताना-जीके मामा सूर्याजीने दीवारपरसे नीचे अुतरनेकी रस्सियाँ काट डाली । अमरीका पहुँचनेके बाद स्पेनिश वीर हर्नेन्डो कॉर्टेज-ने अपने जहाज जला दिये । अिस तरह पीठ फेरना ही जब असंभव हो जाता है तब आत्मरक्षाकी वृत्ति वीरवृत्तिकी मदद करने आती है, और जिसे अपनी जान ज्यादा प्यारी होती है वही अैसे मौकेपर अधिक शूर बन जाता है ।

लेकिन जब कोओी आदमी पानीमे डूब रहा हो या जलते हुअे घरके अन्दरसे किसी असहाय बच्चेकी चीख सुनाओी दे

रही हो तब अपनी जानके खतरेका तनिक भी खयाल किये वगैर कोअी तेजस्वी पुरुष हृदय, धर्मसे वफादार रहकर पानी या आगमें कूद पडता है तब वह वीरवृत्तिका परम अुत्कर्ष प्रकट करता है। जो व्यक्ति माफी माँगकर जीनेकी अपेक्षा फाँसीपर लटकना ज्यादा पसन्द करता है, या करोडो रुपयोकी लालचके वशमे न होकर केवल न्यायबुद्धिको ही पहचानता है, वह भी अलौकिक वीरत्वका ही परिचय देता है। सारी दुनियाका चाहे जो हो जाय, पर अन्तरात्माके नादसे तो मैं हरगिज बेवफा न होअूँगा—अिस तरहकी धीरवृत्ति जिसके लिये स्वाभाविक होती है वह वीरेश्वर ही है।

किसीकी बहू-बेटी या स्त्रीका अपहरण करते समय भी कअी गुडे-बदमाश विकारके वश होकर असाधारण बहादुरी दिखाते हैं। बडे-बडे डाकू भी जान हथेलीपर रखकर घरोमें सेंध लगाते हैं या लूटमार मचाते हैं, और पकडे जानेपर पुलिसके आदमी अुनपर प्राणान्तिक यमयातना ढा दें तो भी अपने षडयन्त्रका भेद नही बताते। अुनकी यह शक्ति लोगोमे आश्चर्य और तारीफके भाव जरूर पैदा कर सकती है, लेकिन प्रामाणिक लोगोका धनहरण या परस्त्रीका अपहरण करनेकी नीचवृत्तिसे प्रेरित बहादुरीकी कोअी आर्यपुरुष कद्र नही कर सकता। कुछ डाकू बडे-बडे डाके डालकर प्राप्त होने वाले धनका अेक भाग आसपासके प्रदेशके गरीब लोगोमें बाँट देते है और अिस तरह लोकप्रिय बनकर अपनेको पकडनेकी कोशिश करनेवालोके छक्के छुडा देते हैं। कभी-कभी अैसे डाकू और लुटेरे प्रख्यात समाज कटक लोगोका नाश करके, अुनका सर्वस्व लूटकर गरीबोको भयमुक्त करते है। इसलिये भी कृपण जनता अैसे लोगोकी सामान्य दुष्टताको भूलकर अुसके गुणोका बखान करने लगती है। यह सब चाहे जितना स्वाभाविक क्यो न हो, फिर भी अैसा नही कहा जा सकता कि अिससे समाजकी अुन्नति होती है। श्रीरामचन्द्रजीकी यह अुक्ति कि 'पाल्या हि कृपणा

जना' प्रजाके गौरवको नही बढाती। जिससे लोक-हृदय अुन्नत नही होता अैसी कृतिमेसे शुद्ध वीररस निकलता है अैसा नही कहा जा सकता। सिर्फ हिम्मत और सरफरोशी वीररस नही है और शत्रुको बेरहमीसे अगभग करने, अुसके आश्रितोकी बेअिज्जती करनेमे वैरवृत्तिकी तृप्ति भले ही हो, लेकिन अुसमे न शूरता है, न वीरता, फिर आर्यता कहाँसे होगी ?

जो आदमी युद्ध करने जाये अुसमे खून, मास और शरीरके छिन्न-भिन्न अवयवोको देखनेकी आदत तो होनी ही चाहिये। दु ख और वेदना—अपनी हो या परायी—सहन करनेकी शक्ति अुसमे होनी ही चाहिये। शम्त्रक्रिया करने वाले डाक्टरोमे भी अिस शक्तिका होना आवश्यक है। समझमे नही आता कि खूनकी धारको देखकर कुछ लोगोको चक्कर क्यो आ जाता है। खुद मुझे मास कटता देख या शस्त्रक्रिया देखते समय किसी किस्मकी बेचैनी महसूस नही होती। फिर भी जब मै वीररसके वर्णनके सिलसिलेमे रणनदीके वर्णन पढता हूँ तब अुसमेसे बगैर जुगुप्साके दूसरा भाव पैदा नही होता। यह तो मै समझ ही नही सकता कि खूनके कीचड और अुसमे अुतरते हुअे नररुण्डोके वर्णनसे वीररसको किस तरह पोषण मिलता है। युद्धमे जो प्रसग अनिवार्य है अुनमेसे मनुष्य भले ही गुजरे, लेकिन जुगुप्सा पैदा करनेवाले प्रसगोका रसपूर्ण वर्णन करके अुसीमे आनन्द माननेवाले लोगोकी वृत्तिको विकृत ही कहना चाहिये। मनुष्यको खभेसे बाँधकर, अुसपर तारकोलका अभिषेक कराके अुसे जला देनेवाले और अुसकी प्राणान्तिक चीखे सुनकर सन्तुष्ट होनेवाले बादशाह नीरोकी बिरादरीमे हम अपना शुमार क्यो कराये ?

वीर-रस मानवद्वेषी नही है। वह परम कल्याणकारी, समाज-हितैषी और धर्मपरायण आर्यवृत्तिका द्योतक है और अुसे वैसे ही रखना चाहिये। वीररसका पोषण और सगोपन वीरोके ही हाथमे रहना चाहिये। वीरवृत्तिको पहचाननेवाले

कवि, चारण, और शायर अलग होते हैं और अपनी रक्षाकी तलाशमे रहनेवाले कायर तथा आश्रित अलग।

पुराने जमानेकी वीरकथाअे हम जरूर पढें, आदरके साथ पढें, लेकिन अुनमेसे हम पुरानी प्रेरणा न ले, हीन सन्तोष हमें त्याज्य ही लगना चाहिये। जीवनके वीर्यका नया आदर्श स्वतत्र रूपसे विकसित करके अुसके लिये आवश्यक पोषक तत्व पुरानी वीरकथाओमेसे जितने मिल सके अुन्हे चुन-चुनकर हम जरूर अिस्तेमाल करें। लेकिन वीररसके पुराने, क्रूर या जीवनद्रोही आदर्शोंमे हम फिसल न जायँ। हमे यह नही भूलना चाहिये कि अगर जीवनमेंसे वीरता चली गयी तो वह अुसी क्षणसे सडने लगेगा और अन्तमे अेक भी सद्‌गुण न बच पायगा।

वर्तमान युगके कलाकारोके अग्रणी श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुरको अेक बार जापानमें अेक अैसा स्थान दिखाया गया जहाँ दो वीर लडते-लडते कट मरे थे। अुस स्थान और घटनापर अपनी प्रतिभाका प्रयोग करके कोअी कविता लिखनेके लिये अुनसे कहा गया। कविवरने वहाँ जो चरण लिख दिये वह भारतवर्षके मिशन तथा मानवजातिके भविष्यको शोभा देनेवाले थे। अुनका भाव यह है—

"दो भाअी गुस्सेमें पागल होकर अपनी मनुष्यताको भूल गये और अुन्होंने धरती माताके वक्षस्थलपर अेक-दूसरेका खून बहाया। प्रकृतिने यह देखकर ओसके रूपमें आँसू बहाये और मनुष्यजातिकी अिस रक्तरजित लज्जाको हरी-हरी दूबसे ढाँक दिया।"

शान्तिप्रिय, अहिंसापरायण, सर्वोदयकारी, समन्वयप्रेमी सस्कृतिका वीररस त्यागके रूपमे ही प्रगट होगा। आत्मविलोपन, आत्मबलिदान ही जीवनकी सच्ची वीरता है। अुसके असख्य भव्य प्रसग कलाके वर्ण्य विषय हो सकते हैं। अैसे प्रसग कलाको अुन्नत करते हैं और जनताको जीवन-दीक्षा देते हैं। मैंने अभी अिस बातकी जाँच नही की है कि आजके कलाकार

जिस पहलूको विशेष रूपसे विकसित करते है या नही, लेकिन अितना तो मैं जानता हूँ कि अगर भविष्यकी कला अुस दिशामे गयी तो निकट भविष्यमे वह असाधारण प्रगति कर सकेगी और समाज सेवा भी अुसके हाथो अपने आप होगी।

जब भवभूतिने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि 'रस अेक ही है, और वह है करुणरस, वह अनेक रूप धारण करता है,' तब अुसने करुण शब्दको अुतना ही व्यापक बनाया जितना कि कला शब्द है। हृदय कोमल बने, अुन्नत बने, सूक्ष्मवेदी बने या अुदात्त बने वहाँ कारुण्यकी छटा तो आयेगी ही। कारुण्यकी समभावना या समवेदना सार्वभौम है, अुसके द्वारा हम विश्वात्मैक्य तक पहुँच सकते हैं। करुणरस सचमुच रससम्राट है। लेकिन यह आवश्यक नही कि करुणरसमे शोककी भावना होनी ही चाहिये। वात्सल्यरस, शान्तरस और अुदात्तरस करुणाके जुदे-जुदे पहलू है। जिस तरह नदियाँ सागरमे जा मिलती है अुस तरह अन्य सब रस अंतमे जाकर करुणरसमे विलीन हो जाते है। अिन सब रसोके लिये अेक मित्रने नाम सुझाया है, 'समाहित रस', अर्थको देखते हुअे यह नाम बिलकुल ठीक मालूम होता हे। लेकिन भाषामे यह सिक्का चल सकेगा या नही अिसमे शक है। वास्तवमे देखा जाय तो सभी रसोकी परिणति योगमे ही है। योग अर्थात् समाधि-समाधान-साम्यावस्था सर्वात्मैक्यभाव। कलामेसे अंतमे यही बात निकलेगी। कलाका साध्य और साधन यह योग ही है। दुर्भाग्यकी बात है कि योगका यह व्यापक अर्थ आजकी भाषामे स्वीकार नही किया जाता। नाक पकडकर, पलथी मारकर, बडी देर तक नीद लेना और भूखो मरना ही लोगोकी दृष्टिमे 'योग' रह गया है।

हमारे साहित्यकारोने करुणरसका बहुत सुन्दर विकास किया है। कालिदासका 'अजविलाप' या भवभूतिका 'अुत्तररामचरित्र' करुणरसके अुत्तम नमूने माने जाते

है। भवभूति जब करुणरसका राग छेडता है तब पत्थर भी रोने लगते हैं और वज्रकी छाती भी पिघलकर चूर-चूर हो जाती है। करुणरस ही मनुष्यकी मनुष्यता है। फिर भी यह जरूरी नही कि करुणरसका अुपयोग केवल स्त्री-पुरुषके पारस्परिक विरह-वर्णनमे ही हो। माँ अपने बच्चेके लिये विलाप करे तो अुतनेसे भी करुणरस का क्षेत्र पूरा नही होता। अनन्त कालसे हर जमानेमे, और हर मुल्कमे, हर समाजमे और हर कारणसे महान् सामाजिक अन्याय होते आये है। हजारो-लाखो लोग अिन अन्याओके शिकार होते आये है। अज्ञान, दारिद्रय, अूच-नीचभाव, असमानता, मत्सर, द्वेष, लोभ आदि अनेक कारणोसे तथा बिना कारण भी मनुष्य मनुष्यको सताता है, गुलाम बनाता है, चूसता है और अपमानित करता है। यह सब घटनाअे करुणरसके स्वाभाविक क्षेत्र हैं।

नल राजाके हसको पकडने या अेकाध सिहके नन्दिनी गायको धर दबोचनेका दु ख हमारे कवियोने गाया है। कोअी निषाद क्रौंचपक्षीके जोडेमेंसे अेकको बाणसे विद्ध करता है तो वाल्मीकिकी शापवाणी सारी दुनियाके हृदयको भेदकर अिस अन्यायकी तरफ अुसका ध्यान खीचती है। फिर भी मनमे अैसा नही लगता कि पशुपक्षियोका या गायभैसका दु ख अभी किसीने गाया है। मध्यम वर्गके लोग विधवाओके दु खोका कुछ वर्णन करने लगे हैं। लेकिन अुसमे भी भवभूतिका ओजो गुण या वाल्मीकिका पुण्य प्रकोप प्रकट नही हुआ है। करुणरसका असर जितना होना चाहिये अुतना नही हुआ है। अिसलिये हृदयकी शिक्षा और हृदयधर्मकी पहचान अधूरी ही रही है। और अिसीलिये गाधीजी जैसे व्यक्ति अस्पृश्यताके कारण अपने हृदयका दर्द व्यक्त करते हैं तो भी सामाजिक हृदय अधिकाशमें अस्पष्ट ही रहता है। करुणरससे सिर्फ हृदय पिघले तो अुतना काफी नही है। अुससे हृदय सुलग अुठना चाहिये और

जीवनमे आमूलाग्र क्राति हो जानी चाहिये। जीवनके प्रत्येक व्यवहारके लिये हृदयधर्ममेसे मनुष्यको अेक नयी कसौटी तैयार करनी चाहिये।

अगर यह कहा जाय कि प्राचीन लोगोको हास्य-रसकी यथार्थ कल्पना तक नही थी, तो अुसमे ज्यादा अतिशयोक्ति नही है। नम्र वचन और सुन्दर चाटूक्तियाँ तो सस्कृत साहित्य-मे जहाँ-तहाँ बिखरी पडी हैं, हमारी सस्कारिताकी वह विशेपता है। लेकिन अूचे दर्जेका हास्यरस अुसमे बहुत ही कम पाया जाता है। अब हमारे साहित्यमे हास्यरसने अनेक सफल प्रयोग किये है सही। फिर भी यह कहे बिना नही रहा जाता कि नाटकोमे पाया जानेवाला हास्यरस बहुत ही सस्ता और साधा-रण कोटिका है। हमारे व्यग्यचित्रो (cartoons) और प्रहस-नोमे पाया जानेवाला हास्य-रस आज भी बहुत निम्नश्रेणीका है। पाठशालाके प्रति-सम्मेलनोमे हास्य और वीर दो ही रसो-को ज्यादा तरजीह दी जाती है। अिसका कारण यही है कि बिना ज्यादा मेहनत किये अुनमे सफलता मिलती है, अनायास तैयारी हो जाती है और तालियाँ भी ज्यादा-से-ज्यादा मिलती है। लेकिन अिससे कलाकी प्रगति नही होती और जनता भी सस्कार-समर्थ नही बनती।

मै नही जानता कि हमारे कलाकारोने अद्‌भुत-रसका परि-पोष किन-किन तरीकोसे किया है। पर मेरे अभिप्रायमे अद्‌भुत-रसकी अुत्पत्ति भव्यता (sublimity) मेसे होनी चाहिये, वरना मनुष्यका अज्ञान जितना अधिक होगा अुतनी अुसे हर चीज अधिक अद्‌भुत मालूम होगी। अद्‌भुतका स्वरूप ही अैसा है कि अुसके आगे कलाका सामान्य व्याकरण स्तभित हो जाता है। विजयनगरके आसपासके पहाडोमे बडी-बडी शिलाओके जो ढेर पडे है अुनमे किसी तरहकी व्यवस्था या समरूपता तो तनिक भी नहीं है, लेकिन वहाँ तो अुसकी कुछ जरूरत ही नही मालूम होती। सरोवरका आकार, बादलोका,

विस्तार, नदीका प्रवाह—अिनमें क्या कोअी किसी खास व्यवस्थाकी अपेक्षा रख सकता है ? भव्य वस्तु अपनी भव्यतासे ही सर्वाङ्ग परिपूर्ण हो जाती है। नहरका व्याकरण नदीके लिए लागू नही होता, अुपवनका रचनाशास्त्र महाकान्तारके लिये अुपयोगी नही होता। जो कुछ भी भव्य, विस्तीर्ण, अुदात्त और गूढ है वह अनन्तका प्रतीक है और अिसीलिये वह अपनी सत्तासे परम-रमणीय है। महाकवि तुलसीदासजीने जो कहा है कि 'समरथको नहि दोष गुसाअी' वह नये अर्थमे यहाँ कलाके सूत्रके तौरपर ही अधिक सुसगत मालूम होता है।

अद्भुत, रौद्र और भयानक तीनो रसोका अुद्गम अेक ही होता है। हृदयकी भिन्न प्रतिभूतियो (Responses) के कारण ही अुनके अलग-अलग नाम पडे है। जब शक्तिके आविर्भावसे हृदय दब जाता है, लज्जा खो बैठता है तब भयानक रसकी निष्पत्ति होती है। किसी अूची और लटकती हुअी कगारके नीचे जब हम खडे रहते हैं तब हम यकीनके साथ जानते है कि यह शिलाराशि हमारे शिरपर टूट पडनेवाली नही है, अुलटे आँधी-तूफानसे वह हमारी रक्षा ही करेगी। फिर भी अगर वह कही गिर पडे तो !—अितना खयाल मनमें आते ही हम दब जाते हैं। यह भी अेक शक्तिका ही आविर्भाव है। पर्वत-प्राय सागर-लहरोपर सवार होकर सफर करनेवाले जहाजमे बैठे-बैठे हम इसी भावका दूसरी तरहसे अनुभव करते हैं।

भव्य वस्तुके साथ मनुष्य हमेशा अपनी तुलना करता ही रहता है। यह तुलना करते-करते जब वह थक जाता है तब आप-ही-आप रौद्ररस प्रगट होता है। और जहाँ भव्यताकी नवीनता और अुसका चमत्कार मिट नही गया है वहाँ अद्भुत रसका परिचय मिलता है। यह तीनो रस मनुष्यकी सवेदन-शक्तिपर आधारित हैं। हम नही जानते कि आकाशके अनन्त तारोको देखकर जानवरोको कैसा लगता होगा। बालकोको

तो वह अेक पालनेके चँदोवेकी तरह मालूम होता है। लेकिन वही अेक प्रौढ खगोलशास्त्रीको तो नित्य-नूतन और वर्धमान अद्भुत रसके विश्वरूप-दर्शनके समान लगता है। अद्भुत रसकी खूबी यह है कि जिस तरह मेघका गर्जन सुनकर सिंहको गर्जना करनेकी अिच्छा होती है अुसी तरह आर्य हृदयको भव्यताका दर्शन होते ही अपनी विभूति भी अुतनी ही विराट, अुदात्त और भव्य करनेकी अिच्छा हो अुठती है। अद्भुत रसमे मनुष्यकी आत्मा अपनेको अद्भुततासे भिन्न नही मानती, बल्कि अेक तरहसे अुसमे वह अपना ही प्राकट्य देखती है, लेकिन रौद्र या भयानकमे वह अपनेको भिन्न ही मानती है। जिसने अिन दोनो वृत्तियोका अनुभव किया है अैसे कलाकारने अेका-अेक घोषित किया कि शिव और रुद्र अेक ही है, शान्ता और दुर्गा अेक ही है। जो महाकाली है वही महालक्ष्मी और महा-सरस्वती भी है। श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन होते ही हनुमानजी-के भक्तहृदयने स्वीकार कर लिया—

"देहबुद्ध्या तु दासोऽहम् जीवबुद्ध्या त्वदंशक।
आत्मा-बुद्ध्य त्वमेवाऽहम्, यथेच्छसि तथा कुरू॥"

अिस अन्तिम चरणमे जो सन्तोष है वही कलाके क्षेत्रमे शान्तरस है। रौद्र, भयानक और अद्भुत यह तीनो रस अगर अन्तमे हमे शान्त रसमे न ले जायँ, सन्तोष न दे तो अिन्हे कोअी रस ही न कहेगा।

अगस्त १९३९

११

मेरे साहित्यिक संस्कार

पुराने जमानेमे वेदान्तकी जितनी चर्चा और मीमांसा होती थी अुससे आजकी साहित्य-चर्चा कुछ कम नही है। आज साहित्यका तत्र बहुत सूक्ष्म और अटपटा हुआ है। अिस तत्रके अनुसार लिखना कोअी आसान बात नही है। अिस

तन्त्रकी तानाशाहीसे अूबकर बेचारा भवभूति बोल अुठा था—

सर्वथा व्यवहर्तव्यम् कुतो ह्यवचनीयता।
यथा स्त्रीणां तथा वाचाम् साधुत्वे दुर्जनो जनः॥

लेकिन आद्य साहित्यकारके सामने कौनसा तन्त्र था? हर देश तथा समाजका आद्य साहित्यकार अनजाने ही साहित्यिक हुआ होगा, क्योंकि साहित्य बिलकुल प्राकृतिक प्रवृत्ति है। अवलोकन, निरीक्षण, विचार, कल्पना या भावना जब अुत्कट हो जाती है तब मनुष्यसे लिखा-बोला जाता है, और अुत्कटताका यह स्वभाव ही है कि अुसकी भाषामें कुछ असाधारणपन, कुछ आकर्षण, कुछ चमत्कृति आ ही जाती है। अुत्कटता में स्वाभाविक सौन्दर्य प्रकट हुअे बिना रहता ही नहीं। यह शोभा पहले तो आप-ही-आप फूट निकलती है, लेकिन बादमें वह शोभा ही सारा ध्यान खींच लेती है और सराहनाका विषय बन जाती है। अुसमेंसे धीरे-धीरे साहित्यका तन्त्र बंध जाता है।

पहले तो लोकसाहित्यकी ही सृष्टि होती है। अुसमें धीरे-धीरे प्रयत्नपूर्वक शोभा लानेसे शिष्ट साहित्य तैयार होने लगता है। लोकसाहित्यमें दो लक्षण हमेशा दिखाअी देते है, साहित्य शास्त्र और धर्मशास्त्रके कृत्रिम और निश्चित बन्धनोंमें वह नही बँधता। सामान्य लोकसमाजकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति और स्वयंभू प्रेरणाके वशमें जब तक साहित्य रहता है तभी-तक वह लोक-साहित्य होता है, सदाचार और सदभिरुचिकी जितनी रक्षा सहजरूपसे अुसमें की जाती हो अुतनेसे ही वह सन्तोष मानता है। प्रयत्नपूर्वक मर्यादाअे बाँधकर आग्रहके साथ अुनका पालन करने जायँ तो लोकसाहित्यका लौकिक-पन मिट जाता है।

लोकसाहित्यकी बड़ी फसल आनेके बाद मनुष्यको अुसमें छलनी लगानेकी अिच्छा होती है। और अुसीमेंसे शिष्ट समाज-का साहित्य बढ़ता है।

लोकसाहित्यकी स्वाभाविकता और ताजगी मुझमें हो या न हो, शिष्ट-साहित्यका असर मुझपर पड़ा हो या न हो, मैं तो

अपनेको स्वाभाविक लेखकोकी श्रेणीमे ही गिनता हूँ। अनुभव और चिन्तनसे जो कुछ और जैसा कुछ सूझे वही अुस-अुस वक्त लिख डालना मैने पसन्द किया है। प्रयत्नपूर्वक साहित्य-सेवा तो मेरे हाथो हुअी ही नही। शिष्ट समाजमे विचरता हुआ भी मै शिष्ट समाजका नही हो सका। जैसा कुछ अनगढ था वैसा-का-वैसा ही रह गया हूँ। मुझे अिसका दुख नही है क्योकि अुस रास्तेसे ही मै अपने-अपनेपनकी—फिर वह अपनापन चाहे जितना स्वल्प क्यो न हो—रक्षा कर सका हूँ। अनगढ मनुष्यको सामाजिक व्यवहारमे कदम-कदम पर कडुवे अनुभवोका सामना करना ही पडता है। अैसे अनुभव मेरे लिये दो नतीजे लाये। अेक तो यह कि मै समाजसे अुकताकर कुदरतकी गोदमे जा पडा, और दूसरा यह कि मै अन्तर्मुख हो गया। पहले-पहले ये दोनो वृत्तियाँ साहित्यसृजन करने न देती थी। अिसलिये यानी सयमके अुद्देश्यसे नही बल्कि आत्म-अविश्वास, लज्जा और मुग्धभावके कारण मै साहित्यसे दूर ही रहा। विद्याध्ययनके दिनोमे जो कुछ पढना पडा और जो कुछ थोडा-सा अपने असाधारण आकर्षणके कारण नजरमे जँच गया अुतना ही मैने पढा। अपनी साहित्य-शक्तिको बढानेका जो कीमती मौका था अुससे मैने कोअी फायदा नही अुठाया।

मुझमे अगर कुछ भी साहित्यशक्ति पैदा हुअी हो तो वह अपने अनुभव और विचार व्यक्त करनेकी अुत्कटतामेसे ही हुअी है। और वह स्वाभाविक रूपसे सभापणमे ही परिणत हुअी। काश, अुस वक्त मुझे वासरी (डायरी) लिखनेकी आदत होती! अपने अेक शिक्षकको मैने अैसी वासरी लिखते देखा है। अुनकी वासरी पढनेकी हमे अिजाजत थी, लेकिन अुसका आस्वाद लेने जितनी शक्ति हममे न थी, क्योकि वे अपनी वासरी अग्रेजीमे लिखते थे। अुसे अगर वे मराठीमे लिखते तो मेरे जैसे अनेक मुग्ध बालकोको असाधारण लाभ पहुँचा होता।

अितना तो सही है कि चिट्ठी-पत्र और वासरी ही सामान्य

जनसमाजका साहित्य है। मेरे खयालसे वही अुच्च कोटिका साहित्य है। दूसरोसे कहने जैसा जितना कुछ हो अुतना ही हम खत-पत्रोमे लिखते है और अपने जीवनमे जो कुछ दर्ज करने जैसा हो, यानी खासियत रखता हो, वही वासरीके पृष्ठोमे आ जाता है। अैसी बढिया छलनीसे छनी हुअी कृतियाँ साहित्य-का दर्जा हासिल करे तो अुसमें क्या आश्चर्य ? साहित्यकार भले कहे कि नाटकान्त कवित्वम्, अुनकी बातका विरोध मैं नही करता। सभी प्रकारकी विविधता और आकर्षकता नाटकोमे स्वाभाविक रूपसे अिकठ्ठी होती है। फिर भी मै कहूँगा कि पत्रमूलं एव वासरी मूल च साहित्यम्। दोनोमे वास्तविकताका बडेसे बडा आधार रहता है। आजकलके कृत्रिम युगमे पत्र और वासरी दोनो बनावटी ढगसे भी लिखे जा सकते हैं। अुसका विचार यहाँ किसलिये करूँ ? दुनिया-की कौनसी चीज़ विकृत नही होती ? सभाषण और मनन जिस तरह अुत्कट व्यापार है अुसी तरह पत्र और वासरी दोनो-का लेखन अुत्कट व्यापार है।

हमारे बचपनमे साहित्य कठ करनेका रिवाज बहुत था। स्कूलमे तथा घरमे लडकोसे बहुत कुछ कठ कराया जाता था। लेकिन हमारी प्राथमिक शालाओमे अुच्च अभिरुचिसे चयन देनेवाला कोअी न था। घरमे तो बालबोध और सकाम भक्तिसे चुना हुआ साहित्य याद करनेका रिवाज था। शामको मन्दिरो-मे पौराणिकोका पुराण सुनने बैठे और रातको हरिदासोंके सगीतमिश्रित हरिकीर्तनका मजा लूटने जायें तभी साहित्यरसि-कताका अखूट आस्वाद मिलता था। अुसमे भी अर्थालकारकी अपेक्षा शब्दालकार और श्लेषपर ही ही हमारे ये साहित्याचार्य कुर्बान होते थे।

घरमे सबसे बडे भाअी सस्कृतके बडे रसिक थे। बचपनमे अुन्हे पढानेके लिये अेक शास्त्रीजी रखे गये थे। भाअीसाहब कभी-कभी सस्कृतके अच्छे-अच्छे फिकरे पढकर सुनाते थे, घूमते-टह-

लते वक्त कठ किये हुअे श्लोक गुनगुनानेकी अुन्हे आदत थी। अर्थ भले ही समझमे न आये, लेकिन सम्कृत वाणीकी ध्वनि-के प्रति आदर और प्रेम तो मेरे मनमे बचपनमे ही अिस तरह जागृत हुआ था। आज भी मुझे अैसे दो फिकरे याद है जिनका अर्थ मै समझ सका था। अेक है मावित्री-आख्यानका और दूसरा है शकरभाष्यके अेक आसान अशका।

अेक तरफ माताजीके मुँहसे मुने हुअे पौराणिक लोकगीत, दूसरी तरफ सस्कृत सुभापित और बीचमे समायी हुअी पौरा-णिकोकी गरी——वह मेरा बचपनका साहित्यिक पाथेय था। दिलचस्पी आने लगी पाडवप्रताप, शिवलीलामृत, भक्तिविजय, हरिविजय आदि मराठी काव्यग्रथ और ‘नवनीत’ नामके मराठी काव्यसग्रहमे आये मराठी कवियोके गीत गानेमे। अिस पुराने मराठी साहित्यके कारण मेरा शब्दसग्रह बढा और सस्कृत सीखनेकी पूर्व तैयारी हो गयी।

‘सस्कृत शैली या लोकशैली ?’ का झगडा आजकल प्रत्येक प्रान्तमे चल रहा है। हमने यह झगडा यूरपसे मोल लिया है। लोक-भापा, लोकसाहित्य और अुनके देशज शब्दोकी मुझे कद्र है। यह मै भी मानता हूँ कि अुनके अुद्धारके विना लोकजागृति और लोकशिक्षा सभव नही है। फिर भी जो लोग यह कहते है कि सस्कृतकी धुरा फेक दो और सिर्फ लोकभापासे ही प्रेरणा लो, अुनसे मै सहमत नही हो सकता। सस्कृत भापा चाहे जितनी मुश्किल हो, अुसका व्याकरण चाहे जितना अटपटा हो। फिर भी वह हमारी भापा है, हमारी बनायी हुअी भापा है, अुसमे हमारी जनताका स्वभाव और अुसका मानसिक गठन प्रतिबिबित हुआ है। अुसके पोपणके द्वारा ही हम सस्कृति-पुष्ट होनेवाले है। अग्रेजोके लिये जिस तरह ग्रीक या लैटिन परायी भापाअे है अुस तरह सस्कृत हमारे लिये परायी नही है। हम अगर सस्कृतसे पोपण लेना छोड दे तो हम सभी तरहसे क्षीण हो जायगे। हमारी सास्कृतिक अकता और सास्कृतिक समृद्धिमे

सस्कृतका हिस्सा सबसे बडा है। विशाल सस्कृत साहित्यका मथन करके अुसमेसे चौदह नही बल्कि चौदह हजार रत्न अपनी देशी भाषाओमे हमे लाने चाहिये, और अिस विरासतकी सुगध हमारे तमाम लेखोमे महकनी चाहिये।

साहित्यकी अुत्तम तैयारी साहित्य-विवेचनमे नही बल्कि सर्वश्रेष्ठ साहित्यके गहरे अध्ययनसे हो सकती है। साहित्य-विवेचन अुचित मात्रामे और बहुत देरसे आना चाहिए, वरना अभिप्राय और अभिरुचि असमय ही परिपक्व होते है।

और साहित्यकी सृष्टि तो विवेचनमेसे हरगिज नही होनी चाहिये। साहित्यके लिये जबर्दस्त सिसृक्षा और दूसरोके साथ गहरा विचार-विनिमय करनेकी आतुरता प्रधान प्रेरणा हो सकती है। माताका अपने बालकोके प्रति प्रेम, पतिपत्नीका अेक दूसरेके प्रति अनुराग और गुरुशिष्योके बीचका भक्ति-वात्सल्य ये भावनाअे जितनी अुत्कट होती है अुतनी ही साहित्य सिसृक्षाकी वृत्ति भी अुत्कट और अदम्य है। यह सिसृक्षा अगर शुभ परिणामी न हो तो अुसे पागलपनकी अुपमा दी जा सकती है। साहित्य आज जितना सस्ता हुआ है और बेसमझे-बूझे जितना खराब किया गया है अुतना अगर वह खराब न कियागया होता तो साहित्यने भारी-से-भारी परिणाम दिखा दिये होते। शुभकर साहित्य आत्माकी अमृतकला है, क्योकि वह चैतन्यकी प्रेरणा है।

साहित्यकी सिसृक्षा और अुसका केवल आस्वाद लेनेकी रसिकता यह दो चीजे बिल्कुल अलग-अलग है। यह नही कहा जा सकता कि केवल रसिकतामेसे सिसृक्षा पैदा होगी ही। सिसृक्षा स्वतत्र प्रेरणा है। साहित्यकी सिसृक्षामे तमाम सिसृक्षाओके लक्षण दिखाओ देते हैं। जिस तरह बाल-विवाह खराब है अुसी तरह छोटी अुम्रमे जल्दी-जल्दीमे किया हुआ साहित्य-सृजन खराब है। दोनोमे बडी अुम्रतक ब्रह्मचर्य यानी वीर्यरक्षा आवश्यक है। दोनोमे तुलना करनी ही हो, तारतम्य

श्चित करना हो, तो 'वीर्यपातकी अपेक्षा वाक्पात अधिक
र होता है।' अिस पुराने वचनको नये अर्थमे साहित्यपर
चरितार्थ किया जा सकता है। यह कहना मुश्किल है कि
हित्य जैसी मगरूर वस्तुमे मर्यादा किस तरह रखी जाय।
र भी अितना तो समझ ही लेना चाहिये कि अतिसेवनसे
राबी पैदा किये बिना नही रहता। अतिसेवनसे शायद
त्कारिताकी चमक आ सकती है लेकिन तेज तो कभी नही
सकता।

कुछ साहित्यवीरोको हम अखड सृजन करते देखते है।
; अखड साहित्यसृष्टिका अधिकार जीवन वीरो तथा जिन्दा
शनरियो का ही है।

अध्ययनकालमे मराठी, सस्कृत और अग्रेजी साहित्यके
त्कृष्ट ग्रथोका असर मुझपर पडा। रवीन्द्रनाथ ठाकुरका
ाहित्य और गाधी-साहित्य अुसके बाद आये। अिन दोनो
ष्ट्र-पुरुषोकी विभूतियां भिन्न-भिन्न है, दोनोकी साधनाअे
लग-अलग है। लेकिन दोनोके साहित्यका गहरा अध्ययन
रनेपर यह बात साफ हुअे बिना नही रहती कि दोनोका
र्शन करीब-करीब अेक-सा ही है। आधुनिकोमे भाडारकर,
ानडे, स्वामी विवेकानद, भगिनी निवेदिता, लाला हरदयाल,
ानन्दकुमार स्वामी, बाबू विपिनचन्द्र पाल, अरविन्दघोष, रवीन्द्र-
ाथ ठाकुर और गाधीजी-अितनोका प्रभाव मुझपर अधिक-से-
धिक पडा है अैसा मै मानता हूँ। आश्चर्य यह है कि मै लोकमान्य
ळकका भक्त होते हुअे भी और अुनके आन्दोलनमे शरीक
ानेपर भी अुनके साहित्यका मुझपर बहुत ही कम असर पडा।
समे कुछ-न-कुछ अैसा है जिससे मै अुनका साहित्य हजम न
र सका। अग्रेजी साहित्यके बारेमे यहां कुछ भी लिखनेकी
च्छा नही है। मै अितना ही कह सकता हूँ कि अग्रेजी
ाहित्यके प्रति मेरे मनमे गहरा आदर है, हालाकि अुस
ाहित्यका सेवन तो मै बहुत कम कर सका हूँ।

कवि हो या गद्यलेखक, अुन्हे जीवनका गहरा अध्ययन या दर्शन होना चाहिये और आजकल तो साहित्यकारके लिये मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, भौतिकविज्ञान और धर्मशास्त्रका विस्तृत अध्ययन करना जरूरी है। अिस आदर्शतक जो पहुँचे हैं अुन्हीका साहित्य समाजपर गहरा असर कर सकता है। विवेकानन्द, निवेदिता, रवीन्द्रनाथ और गाधीजी मुझपर जो अितना प्रभाव डाल सके अुसका यही कारण है। अुनके साहित्यने मुझे जीवनमे प्रेरणा दी, हृदयको सात्वना दी, और अुज्ज्वल भविष्यकी झलक दिखलायी।

अितिहासकारोका भी मुझपर गहरा असर होना चाहिये था। लेकिन जैसा अितिहास मैं चाहता हूँ वैसा अितिहास मैने नही देखा है। मेरी रायमे जो त्रिकालज्ञ हो वही यथातथ्य अितिहास लिख सकता है।

× × ×

मेरे विचारसे हमारे देशके लिये रामायण और महाभारत अत्यत पौष्टिक आहार है। दोनो अलग-अलग चीजें हैं। सिर्फ रामायणसे काम नही चलेगा। सिर्फ महाभारतसे भी काम नही चलेगा। यह दोनो संक्षेपमे भी नही पढे जा सकते, वह पूरे-के-पूरे ही पढे जाने चाहियें। साथ-ही-साथ अुपनिषद, योगसूत्र और मनुस्मृति पढी जायें तो हमारी बहुत कुछ तैयारी हो जायगी। अुसमें भी गीता पढनेके बाद ही अुपनिषदोका अध्ययन होना चाहिये। अमेरिकन लोगोंके लिये जो स्थान कोलबसका है वही स्थान हमारी संस्कृतिमे अुपनिषदके आत्मवीरोका है। हमारे साहित्यमे अुपनिषदकी कडिकाओं और पालीभाषाके बौद्ध सभाषणोको सभी तरहसे हमारा मूलधन कहा जा सकता है। अुनके अन्दर ही हमें अपनी सस्कृतिकी गगोत्री मिल जाती है। अुनमेसे प्राप्त होनेवाले जीवनदर्शनको अद्यतन करनेके लिये अुसमे भौतिक-विज्ञान, सपत्तिशास्त्र और सामाजिकविज्ञान इन तीनोको

जोड देना चाहिये ।

साहित्यका विचार करते समय मुझे असा लगता है कि संस्कृत साहित्यके साथ औरानका फारसी साहित्य, प्राचीन यूरपका ग्रीक साहित्य और पूर्वकी तरफका हमारे लिये लगभग अज्ञात जैसा चीनी साहित्य अिन सभी साहित्योंका गहरा अध्ययन होना चाहिये । प्राचीन संस्कृतिके अध्ययनके बिना अिस बातका पता न चलेगा कि आधुनिक कालकी ताकतें कितनी है, कैसी है और अनका वीर्य कहाँतक पहुँच सकता है । हमारे यहाँ जितना अध्ययन अंग्रेजी साहित्यका हुआ करता है अतना ही अध्ययन जर्मन साहित्यका भी होना जरूरी है, लेकिन अुस बारेमें हम अभीतक लापरवाह है । यूनिवर्सिटियाँ अपने पाठ्यक्रम द्वारा जितना कुछ खिलायेगी अुतना ही खा लेनेकी हमारी शिशुवृत्ति अभी नहीं गयी है । और जितना खाया जाता है अतनेका लाभ अपनी भाषाको देनेका फर्ज भी बहुत कम विद्वान अदा करते है ।

अिस संबंधी अेक छोटीसी घटना मुझे बहुत महत्वकी लगी है । बम्बअी सरकारने अेक बार बम्बअी यूनिवर्सिटीसे पूछा था, कि 'संस्कृतके अध्ययनके लिये अगर हम कालेज खोले तो क्या आप अुस कालेजके विद्यार्थियोंको यूनिवर्सिटीकी अुपाधियाँ देनेको तैयार है ?' अुस वक्त यूनिवर्सिटीमें जो चर्चा अिस बारेमें हुअी अुसमें हमारे शिक्षित परांजपेजीने अपनी यह राय जाहिर की कि 'यदि संस्कृतके साथ कुछ नहीं तो प्रीवियस (फर्स्ट अीयर आर्ट्स) जितना अंग्रेजीका ज्ञान होगा तभी हम अुपाधि देनेका विचार करेंगे' और अुसमें भी अुन्होंने अिस बात पर जोर दिया कि संस्कृत सीख लेनेके बाद अगर विद्यार्थी अंग्रेजी सीखने जाय तो वह नहीं चलेगा । अंग्रेजी विद्याके संस्कार हो जानेके बाद अगर कोअी संस्कृत सीख ले तो हमें अेतराज नहीं है ।' अुनका विचार अुलटा था मगर आग्रह सकारण था । हमने अपने यहाँ शिक्षाके

गर्भादानमे ही अग्रेजीके संस्कार कराके अपनी विद्याको नि सत्व और हीनश्रद्ध बना दिया है। विद्यासस्कारका प्रारभ अगर स्वकीय भाषा और स्वकीय सस्कृतिसे ही न किया जाय तो हमारे लिये किसी भी प्रकारकी अुम्मीद नही है। अैसा तो कुछ नही है कि जो अपना-अपना धर्म छोड़ते है वे ही सिर्फ परधर्ममे जाते है। स्वधर्म और स्वभाषाके सस्कारोसे अगर बाल्यकाल वचित रहे तो अुसके जैसी हानि दूसरी कोअी भी नही है।

हमारे गठनमे पहले स्वभाषा तथा अुसका साहित्य और अुसके-साथ-ही साथ अुसके द्वारा ही सस्कृतके सस्कार भी मिलने चाहिये। अुसके बाद राष्ट्रभाषा—जिसके द्वारा सस्कृत व पर्शियन दोनोका पूरा खमीर हमे मिलना चाहिये। अितनी तैयारीके बाद दूसरी चाहे जो भाषा और अुसका साहित्य ले लिया जाय तो वह पोषक ही होगा।

जहाँ भारतवर्षकी साधना सर्वसमन्वयकारी है हमारी यूनिवर्सिटियोने लगभग ऐसा प्रबन्ध कर रखा है कि जो सस्कृत पढे वह फारसी पढ ही न सके और जो फारसी पढे अुन्हे सस्कृतसे विमुख ही रहना पडे। केवल हिन्दुस्तानीके द्वारा ही हम गगा-यमुना जैसी अिस सुर-असुरकी सस्कृतिका मेल करा सकते है। जिन्हे साहित्यके सस्कारोको सर्वांगसुन्दर बनाना है अुन्हे सस्कृत और फारसी दोनो साहित्योके अुत्कृष्ट ग्रथोके अनुवाद हिन्दुस्तानीमें कराने चाहिये और अैसा प्रबन्ध करना चाहिये कि वह दोनो लिपियोमे अुपलब्ध हो। अिन दोनोका जब अेकसाथ सेवन होगा तब हमारे साहित्यसर्जनमे अेक नया ही तेज आ जायगा।

उदात्त संस्कृति

१

संस्कृतिका विस्तार

वृक्ष तो अपने-अपने स्थानोपर ही स्थिर रहते है, लेकिन वायु वृक्षोके बीजोको अेक स्थानसे दूसरे स्थानपर अुडाकर ले जाती है। फूल अपने स्थानपर ही रहता है, किन्तु पतिगोके पैरोमे फूलोके जो पराग चिपक जाते है अुनके जरिये दूर-दूरके फूलोमे रहनेवाले पुकेसर और स्त्रीकेसरका सयोग होता है और अिसतरह पुष्पसृष्टिका विस्तार हो जाता है। मानव-सस्कृतिके बारेमे भी यही स्थिति है। मनुष्यके अन्दर दोनो वृत्तियाँ पाई जाती है—स्थावर और जगम। जो आदमी स्थावर होते है वे अेक ही स्थानपर कायम रहते है। अुनमे मरक्षक प्रवृत्ति विशेषरूपसे होती है। स्थावर लोग पुरातन-प्रिय होते है। शान्तिके अुपासक होते है। जगम लोग अिनसे बिलकुल विपरीत, अुनमे स्थिरता नही होती। चाहे जितना लाभ होता हो तो भी जगम मनुष्य अेक स्थानको पकडकर नही बैठेगा। स्थावर मनुष्यका धधा खेती है और जगम मनुष्यका शिकार या पशुपालन। शिकार जगली स्थिति है और पशु-पालन अुससे सुधरी हुअी स्थिति है। स्थावर तथा जगम दोनो वृत्तियाँ अीश्वर-निर्मित है। दोनोके द्वारा अीश्वरका हेतु ही सफल हुआ करता है। अिस तत्त्वको ध्यानमे रखकर हम भिन्न-भिन्न सस्कृतियोका अध्ययन करेंगे।

दुनियामे तीन प्रधान सस्कृतियाँ देखी जाती है—अिस्लामी, अीसाअी और हिन्दू। हालाँकि अिन सस्कृतियोको हमने अुन-

अुन धर्मोंके ही नाम दिये है, फिरभी अैसा नही है कि धर्म और सस्कृति अेक ही चीज हो। अितना ध्यानमे रखा जाय तो यहाँ पेश किये हुअे विचारोमे कोअी गडबडी मालूम न होगी।

अिस्लामी सस्कृति अरब लोगोके तबुओमे पैदा हुअी और घोडोकी पीठपरसे अुसका विस्तार हुआ। जहाँ-जहाँ घोडा पहुँच सका वहाँ-वहाँ अिस्लामी सस्कृति भी पहुँच गयी। जिस प्रकार प्रत्येक जन्म दो व्यक्तियोके सयोगसे होता है अुसी तरह संस्कृतिकी भी हालत होती है। मुसलमानी धर्मके अरबी वीर्यका औरानी सस्कृतिके साथ सयोग हुआ और अिस्लामी संस्कृतिका निर्माण हुआ।

अब औसाअी सस्कृतिको देखे। औसाअी सस्कृतिका जन्म भूमध्यसागरके किनारेपर हुआ और अुसका प्रसार समुद्रकी पीठपर चलनेवाली नौकाओ द्वारा हुआ। औसाअी धर्मके तत्त्वोको ग्रीक सस्कृतिसे पोपण मिला और आगे चलकर रोमन सस्कृतिके अखाडेमे तालीम पाकर वह तैयार हो गअी। औसाअी सस्कृतिपर मातापिताकी अपेक्षा गुरुकी शिक्षाका असर पडता हुआ दिखाअी देता है। जहाँ-जहाँ नौकाकी गति है वहाँ-वहाँ अिस सस्कृतिका विस्तार हुआ है।

तीसरी सस्कृति है हिन्दुओकी। अिस्लामी सस्कृतिका चित्र तंबूके पास घोड़ेको बाँधकर दिखाया जा सकता है, औसाअी सस्कृतिका चित्र समुद्रकी लहरो पर डोलनेवाली नौकासे व्यक्त किया जा सकता है, जबकि हिन्दू सस्कृतिका चित्र वटवृक्षके नीचे किसी झोपडीके पास गायको बाँधकर दिखाया जा सकता है। आर्य-धर्मका द्राविडी आदि सस्कृतियोंके साथ विवाह हुआ और अुसमेसे हिन्दू-सस्कृति पैदा हुअी।

औसाअी सस्कृतिका प्रसार करनेके लिये किश्ती है। अिस्लामी संस्कृतिके प्रसारके लिये घोड़ा है, मगर हिन्दू-सस्कृतिका प्रसार करनेवाला कौन है? जगलोको काट-साफ करके खेती और

शहरोकी स्थापना करनेवाले आर्योंने हिन्दू-सस्कृतिका थोडा-बहुत प्रसार किया तो सही, मगर हिन्दू-सस्कृतिका विस्तार करनेवाला सच्चा प्रचारक तो झोपडीपर अुगे हुअे तुंबेको ही भिक्षापात्र बनाकर, शरीरपर ओढनेके वस्त्रोको लाल मिट्टीसे रगकर 'न धनेन न प्रजया त्यागेनैकेन अमृतत्त्वमानशु' कहकर धर्म तथा अमृतत्त्वका प्याला ससारको पिलानेके लिये निकल पडनेवाला सर्वसगपरित्यागी परिव्राजक है । अिस मार्गके आद्य परिव्राजकने तो अुत्तर भारतमे ही विहार किया, किन्तु अुसके शिष्योने 'अक्कोधेन जिने क्कोधम्' कहते हुअे सारे युरेशियाको व्याप्त कर दिया ।

विविधता सृष्टिका मूलमत्र है। अितिहास-विधाताकी यह अिच्छा नही है कि अेक ही सस्कृतिका प्रसार सारे जगतमे हो । विविधतामे अेकताको प्रस्थापित करनेमे ही प्रभुको आनन्द है ।

जिसे अेकागी साक्षात्कार हुआ है अुसकी समझमे यह तत्त्व नही आता और अिसीलिये अपने ही तत्त्वका सार्वभौमत्व प्रस्थापित करनेके लिये वह निकल पडता है । फिर अैसा भी नही है कि यह प्रचारक हमेशा नि स्वार्थ ही होता हो ।

नूतन तत्त्वप्राप्तिका पुत्रोत्सवके समान आनन्द जब पेटमे न समा सका तब मुसलमानी धर्मको सारे आलममे फैलानेकी गरजसे अिस्लामी धर्मवीर आगे बढे । आसपासकी जगली जातियोको मुसलमानी धर्मकी अुच्चता आसानीसे पसद आयी और वे अुसमे शरीक हो गये । दूसरी तरफसे मुसलमानोने औरानी सस्कृतिको स्वीकार किया । लेकिन मुसलमानी धर्मको आलमगीर (सार्वभौम) बनाना हो तो हिन्दू और औसाओ सस्कृतियोपर, जो कि पूर्व और पश्चिमके छोरोको सँभाल रही थी, भी विजय प्राप्त करना जरूरी था। दैवयोगसे हिन्दुस्तान और यूरोप दोनो जगह अिसी अर्सेमे सघशक्ति नष्ट हो चुकी थी । युरपमे छोटे-छोटे राष्ट्र अेक दूसरोसे लड मरते थे और हिन्दुस्तानमे अनेक जातियाँ और अनेक छोटे-मोटे राजा 'मै बडा या तू बडा' कहकर आपसमे झगड रहे थे । स्वाभाविक रूपसे ही साहसिक

मुसलमानोके लिये कुरान, तलवार और व्यापार प्रसार करना आसान होगया। मुसलमानोने स्पेनके अदर अल्हम्ब्रा (लाल महल) बनाया और आगरेमे ताजमहल। ताजमहल चाहे जितना सुन्दर क्यो न हो, लेकिन आखिर है तो वह अेक कब्र ही। मुमताज बेगमको ही नही बल्कि साथ-साथ अिस्लामी सस्कृतिके विस्तारको भी अुसके गर्भमे दफनाया गया।

यूरोपमें औसाअी धर्मका प्रचार तो बहुत ही हुआ था। लेकिन औसाअी धर्मका नम्र नीतिशास्त्र यूरोपीय लोगोंके गले कदापि अुतरा न था। अेक गालपर तमाचा पडे तो तुरन्त दूसरा गाल आगे करनेकी तैयारी यूरोपमे किसीभी समय न थी। अैसी हालतमे मुसलमानी तलवारकी मार शुरू होते ही यूरोपकी क्षात्र-वृत्ति जोशमे आयी और शार्लमान राजाके समयसे लेकर आज-तक मुसलमानी सत्ताको धक्का देकर यूरोपसे बाहर निकाल देने-की कोशिश चल रही है। अब तो अैसा मालूम नही देता कि मुसलमानी सस्कृतिको सिर्फ यूरोपसे निकाल बाहर करके ही यूरोपीय राष्ट्र सन्तोष मानकर चुपचाप बैठ जाअगे। अफ्रीका महाद्वीपमे औसाअी और मुसलमानी दोनो धर्म अपना-अपना विस्तार करनेकी कोशिश कर रहे है। अुसमे औसाअी धर्मकी अपेक्षा मुसलमानी धर्मको अधिक सफलता मिलती है जिससे औसाअी लोगोको बहुत दु ख होता है। ज्यादातर मुसलमान राष्ट्रको यूरोपकी जनताने आज व्याप्त कर रखा है। अिसके परिणामस्वरूप कभी-न-कभी मुसलमानी राष्ट्र फिरसे सजीव होकर औसाअी राष्ट्रोपर हमला किये बिना न रहेगे। यह तो नही कहा जा सकता कि आघात-प्रत्याघातके निर्दय नियमके शिकजेमे फँसी ये दो सस्कृतियाँ अिस तरह कबतक लडती ही रहेंगी, अुत्साहके प्रथम जोशमे सारी दुनियाको जीतनेके लिये निकली हुअी अिस्लामी सस्कृतिको यूरोपमे जिस तरह शह मिली और अुसका गर्वज्वर अुतर गया अुसी तरह हिन्दुस्तान-मे मुसलमानी सल्तनतका सिक्खो और मराठोकी तरफसे

जबर्दस्त विरोध हुआ और यहाँ भी मुसलमानी सस्कृतिका अभिमान चूर-चूर हो गया। 'तुम अपने धर्मका पालन करो, हम अपने धर्मका पालन करेगे' यह हिदू धर्मका स्वधर्मरहस्य मुसलमानोकी समझमे आने लगा है। कुरान शरीफमे भी अेक अैसा वचन हे कि 'तुमको तुम्हारा धर्म और हमको हमारा धर्म मुबारक हो।' यह मालूम कर लेना जरूरी है कि चुस्त मुसलमान अिस वाक्यका क्या अर्थ लगाते है।

ओसाओ धर्ममे, असलमे देखा जाय तो लडाओके लिये स्थान ही नही है। मुसलमानी धर्ममे धर्मप्रसारके लिये लडना पुण्यप्रद माना गया हे। अितना ही नही बल्कि उसे कर्तव्य समझा गया हे। हिन्दू धर्म बीचके मार्गको स्वीकार करता है। हिदू धर्ममे धर्मानुकूल रक्षाके लिये युद्धको विहित माना गया है। आत्मरक्षा या धर्मरक्षाके लिये करनेके युद्धको हिदू धर्म 'यदृच्छया चोपपन्न स्वर्गद्वारमपावृतम्' मानता है।

That thou mayest injure none, dove-like be,
And serpent-like that none may injure thee

अिस बाअिबलके वचनमे हिदू तत्त्वका यथास्थित वर्णन किया गया हे। हिदू लोगोने अपने बचावका प्रयत्न तो किया है लेकिन बदला लेनेकी बुद्धि अुन्हे कभी नही सूझी और अिसीलिये आज हिदू मुसलमानोके अेकसाथ रहनेकी सभावना कल्पनामे तो आ सकती हे।

पश्चिमी सस्कृति अर्थप्रधान है। हिदु-मुसलमान सस्कृतियोने जीवनके आर्थिक पहलूकी ओर ध्यान ही न दिया। अुसके प्रायश्चित्तके तौरपर दोनोको आज पश्चिमी सत्ताके पाशमे जकडकर रहना पडा हे। जीवनको परिपूर्ण बनाना हो, पारमार्थिकके साथ अैहिक कल्याण साधना हो तो जैसा कि श्री वेदव्यासजी कह गये है

धर्मार्थकामा सममेव सेव्या

हमने अिसमेसे अेक अगके प्रति लापरवाही बरती। अपनी

खुशीसे हमने जिस अगका अनुशीलन न किया अुसका अनुशीलन पराभव और परतन्त्रताकी कठोर शालामें अीश्वर-ने हमसे कराया। पैनअिस्लामिक लोग चाहे जो कहे, लेकिन अिस्लामी संस्कृतिमे जहागीर बननेका मोह अब नही रहा है। जिस तरह हिंदुओने वैरकी वृद्धि न रखकर सिर्फ अपने बचाव-के लिये ही विरोध किया अुस तरह हिन्दू-मुसलमानोको अेक होकर सात्त्विक वृत्ति द्वारा और आत्मिकबलका प्रयोग करके अिस अर्थपरायण पश्चिमी सस्कृतिका विरोध करना चाहिये।

अिस जगम संस्कृतिका तीसरा नमूना हिन्दूधर्ममेसे ही निकले हुअे बौद्ध धर्मका है। अिस धर्मको भी सार्वभौम बनने-की पहलेसे लालसा थी। लेकिन अुसके साधन सौम्य और सात्त्विक थे। अिसलिये अुसके विस्तार या सकोचमे रक्तपात-की कोअी आवश्यकता दिखाअी न दी। अिस धर्ममे सत्यका जितना अश है अुसका प्रसार आप-ही-आप होता है और भ्रामक कल्पनाअे या अहकार तलमे जमकर रह जाता है। जिस तरह समुद्रमेसे शुद्ध पानीकी भाप बनकर आकाशमे अुड जाती है, और खारा नमक नीचे रह जाता है अुस तरह बौद्ध धर्मका आजतक होता आया है।

हिन्दुस्तान ही सब धर्मोका ननिहाल है। धर्मोकी व्यवस्था करनेकी शक्ति हिन्दुस्तानमे है। हिन्दू सस्कृतिमे जगमकी अपेक्षा स्थावर तत्त्व विशेष है। औरअसल बात तो यह है कि हिन्दू सस्कृतिमे अहकार नही है। सब सस्कृतियोके समन्वयका प्रथम प्रयोग परमेश्वर हिन्दुस्तानको छोड और कहाँ जाकर करेंगे ?

: २ :

जीवन-चक्र

तपस्या, भोग और यज्ञ—यह अेक महान् जीवन-चक्र है। मनुष्य किसी कामनासे प्रेरित होकर सकल्प करता है। अुस

सकल्पकी सिद्धिके लिये मनुष्य जिन-जिन कामोको उठाता है, वे सभी तपके नामसे पहचाने जाते है। काम खुद-ब-खुद अथवा स्वत प्रिय होते हो, सो नही, किन्तु सकल्पसिद्धिकी आशा हीके कारण मनुष्य अुनको प्रेम या उत्साह-पूर्वक उठा लेता है। इस तपके अतमे फल-प्राप्ति होती है। फल-प्राप्तिके बादकी क्रिया ही भोग है। फलोपभोग हमारी धारणासे भी गूढ़ वस्तु है। यदि फलोपभोगमे केवल तृप्ति ही होती, तो उसीमे मनुष्यको आत्म-साक्षात्कार हो जाता, पर फलोपभोगके आनन्द हीमे विषण्णता भरी होती है। हम हरेक आनन्दमे अनजाने आत्माको प्राप्त करना चाहते है। कामना-पूर्तिसे मिले हुअे आनन्दके बाद अेक क्षणमात्र मोहजन्य सन्तोषको प्राप्त कर दिल कहता है, कि मै जो चाहता था वह यह नही है। अितने ही से सचेत होकर यदि मनुष्य कामनाओसे विमुख हो जाय, तो अुसे आत्म-प्राप्तिका मार्ग मिल जाय। परन्तु सत्यका मुख सोनेके ढक्कनमे ढका होता है। एक सकल्प पूरा नही होने पाता कि दूसरा सकल्प अुसीमेसे अुत्पन्न हो जाता है और इस तरह फिर नअी प्रवृत्तिमे, नये तपमे और नये भोगमे मनुष्य बहने लगता है।

अिसमे यज्ञको स्थान कहाँ है? प्रत्येक भोग और कामना-से किया हुआ प्रत्येक तप, प्रकृतिसे लिया हुआ ऋण है। मनुष्य अुसे चुकाकर ही ऋण-मुक्त होता है। मुझे अन्न खाना है, अिसी-लिये मै जमीन जोतता हूँ, अुसमे बीज बोता हूँ, फसल कटने-तक खेतमे परिश्रम करता हूँ और अिस तरह जमीनका सार निकालकर उसका भोग करता हूँ। मेरा धर्म यह है कि मैने भूमिमे जितना सार लिया अुतना ही अुसे फिर लौटा दूं। अिस तरह भूमिको अुसकी पहली स्थिति प्राप्त करा देना ही यज्ञ-कर्म है।

प्रवासमे मै किसीके यहाँ रात-भर रहा। मुझे रसोई बनानी है, मैं घरवालेके पाससे बर्तन माँगकर लेता हूँ। अब बर्तनोमे

खाना पकाना मेरा तप है, और भोजन करना मेरा भोग। अितना करनेके बाद घरवालेके बर्तन मांजकर, जैसे थे वैसे ही करके, दे देना मेरा यज्ञ-कर्म है।

मुझे तालाब या कुंअेपर स्नान करना है। मै पानी निकाल लेता हूं तो वह मेरा तप है, स्नान करता हूं तो वह मेरा भोग है। अब यज्ञ कौनसा? बहुतेरे मनुष्य—लगभग सभी—विचारतक नही करते कि अिसमे कोअी क्रिया बाकी रह गअी है। शास्त्रोमे लिखा है, 'यदि तुम तालावमे स्नान करो तो जितनी तुमसे हो सके अुसकी कीचड निकालकर बाहर फेक दो।' यही हमारा यज्ञ-कर्म है। कुंअेमे नहाते हों तो अुस कुंअेके आसपासकी गदगीको दूर करना हमारा आवश्यक यज्ञ-कर्म है।

गीता कहती है, जो अिस तरहका यज्ञ-कर्म नही करता वह चोर है। वह पापी मनुष्य शरीरको तकलीफ देना नही चाहता (अघायुरिन्द्रियाराम), समाजकी सेवा तो ले लेता है, पर अुससे अुधार ली हुअी चीज लौटाना नही जानता। जो मनुष्य भोग करता है, पर यज्ञ नही करता, अुसका यह लोक भ्रष्ट होता है, फिर अुसके लिये परलोक तो कहांसे होगा?

अिस यज्ञ-कर्मका लोप हो जानेसे ही हिन्दुस्तान कगाल और पामर बन गया। हम स्त्रियोसे सेवा लेते हैं, परन्तु अुसका बदला अुन्हे नही देते। किसानोके परिश्रमका भोग करते हैं, पर जिससे किसानोकी भलाअी हो अैसा यज्ञ-कर्म नही करते। हम अन्त्यजोको समाज-सेवाका पाठ पढाते हैं, बल-पूर्वक भी अुनसे सेवा लेते हैं, पर अुनके अुद्धार-रूपी यज्ञ-कर्म तकको न करने जितने हरामखोर हम बन गये हैं। हम सार्वजनिक लाभ प्राप्त करनेको सदा दौडते हैं, किंतु कर्तव्यो-का पालन शायद ही कभी करते हैं। अिससे सारा समाज दिवालिया बन गया है।

मोक्ष-शास्त्र कहता है—'न्यायके लिये भी तुम्हे यज्ञ करना चाहिये। भोगके लिये किया हुआ तप आधा कर्म हुआ, यज्ञ-कर्म अुसकी पूर्ति है। तुम तप तो करते हो, पर यज्ञ नही करते, अिसीसे तुम्हारी वासनाअें अनियन्त्रित रूपसे बहती हैं। यदि तुम यज्ञ करने लगो तो भोगकी अिच्छा जरूर मर्यादित रहेगी, तुम्हारा जीवन पापशून्य हो जायगा।

हरेक बालकके जन्मके बाद शिशु-सवधके लिए स्त्री-पुरुप यदि सात वर्ष ब्रह्मचर्यमे बितानेका निश्चय कर ले तो अुन्हे दीन बनकर समाजकी दया पर आधार रखनेका मौका अुनपर नही आ सकता।

यज्ञ करनेके बाद—ऋण चुकानेके बाद—मनुष्य जो तप करता है, जो भोग भोगता है, अुसका वह अधिकारी होता है, अुससे अुसे किल्मिष (पाप) नही प्राप्त होता। अुसकी प्रवृत्ति निष्पाप और अुन्नति-कारिणी होती है। पर यदि मोक्ष प्राप्त करना हो तो प्रवृत्तिको छोड देना चाहिये—अर्थात् कामना, तत्प्रीत्यर्थ किया जानेवाला तप और अुस तप-के द्वारा अुत्पन्न फलका अुपभोग अिन तीनोको त्याग देना चाहिये। परन्तु यज्ञको तो किसी तरह छोड ही नही सकते। निष्काम—ज्ञानपूर्वक यज्ञ—कार्यमेव—करना ही चाहिये। अुससे पुराना ऋण चुक जाता है, अपने सम्बन्धियोका ऋण टल जाता है, समाजका सर्व-सामान्य भार कम हो जाता है, पृथ्वीका भार हल्का हो जाता है, श्रीविष्णु सतुष्ट होते है और मनुष्य मुक्त हो जाता है।

हम जो जी रहे है, अिसीमे सैकडो व्यक्तिओका ऋण हम लेते है। प्राकृतिक शक्तियोका तो ऋण है ही, समाजका ऋण भी है, माता-पिताका ऋण भी है, समाजको हर प्रकारसे सस्कारी बनानेवाले पूर्व-ऋषियोका भी ऋण है, और परम्परा-की विरासत हमारे लिये छोड जानेवाले माता-पिताओका भी ऋण है। ये सब ऋण पचमहायज्ञो द्वारा चुका देनेके बाद ही

मनुष्य मुक्ति या मुक्तिका विचार कर सकता है।

अिस यज्ञ-कर्ममे पर्यायसे काम नही चलता। ऋण जिस तरहका हो, यज्ञ भी अुसी तरहका होना चाहिये। विद्या पढ-कर गुरुसे लिया ऋण गुरुको दक्षिणा भर दे देनेसे नही चुकता; वल्कि गुरुके दिये ज्ञानकी रक्षा कर और अुसे वढाकर नअी पीढीको देना ही सच्चा यज्ञ-कर्म है। सृष्टिमे नवीन कुछ भी नही होता, जो-कुछ है अुतने हीमे काम चला लेना चाहिये। अिसलिये हम अपनी चेष्टाओंसे साम्यावस्थाका जितना ही भग करते हैं, अुतना ही अुसे फिर समान कर देना परम-आवश्यक यज्ञ-कर्म है। आकाश जितनी भाप लेता है अुतना ही पानी फिर दे देता है। समुद्र जितना पानी लेता है अुतनी ही भाप वापस दे देता है। अिसीसे सृष्टिका महान् चक्र वेरोक-टोक चलता है। यज्ञ-चक्रको ठीक-ठीक चलाते रहना शुद्ध प्रवृत्ति है। निष्काम होकर त्याग-भावसे, कम-से-कम जहाँतक अपना सम्वन्ध है, अिस चक्रका वेग घटाना ही निवृत्ति धर्म है। कुछ भी काम न करना निवृत्ति नही, वह तो विलकुल हरामखोरी ही है।

प्रजाका निर्माण करके प्रजापतिने अुसके साथ यज्ञका भी निर्माण किया, अिसीलिये प्रजापतिके अूपरका वोझ हलका हो गया और अिसीलिये प्रजाओंको स्वावलम्वनकी स्वतन्त्रता मिली, मोक्षकी सभावना रही।

: ३ :

सुधारोंका मूल

रेलमे कअी वार भीड न होनेपर भी लोग झगडा करते हैं। यदि हरेक मनुष्य अपने वैठने योग्य जगह लेकर वैठ जाय तो सभी सुखसे वैठ सकें, पर कितने ही लोग विना कारण स्वार्थी और मनुष्य-शत्रु होते हैं। उनका यह हठ होता है कि लड-भिडकर जितनी जगह रोकी जा सके अुतनी रोककर ही हम मानेंगे,

फिर परवाह नही, यदि उन्हे अैसा करते हुअे जरा भी आराम न हो, बल्कि अुन्हे अुलटा दु ख भी अुठाना पडे। बेंचके अूपर अधिक जगह रोकनेके लिये यदि बिस्तर न हो तो वे पालथी ही मारकर बैठेगे, और अुस पालथीको भी अितनी पोली करेगे कि पैरोकी सन्धियाँ दुखने लग जायँ! जबतक अुनकी लात दूसरेको न लग जाय तबतक अुनके मनमे यह विश्वास ही नही होता कि हमारे स्वार्थकी पूरी रक्षा हुअी है। अैसा न करके अगर हरेक मनुष्य सज्जनताके साथ अेक-दूसरेकी सुविधाका खयाल रखते हुअे सतोष वृत्तिका विकास करे तो किसीको भी दु ख न हो और सभी आरामसे प्रवास कर सके।

शहरो और देहातमे जब लोग घर बनवाते है, अुस वक्त भी अिसी प्रकार पडोसी-पडोसीमे झगडा हो जाता है। अुस जगह भी लोग सुख-दु ख अथवा सुविधा-असुविधा आदिका विचार छोडकर महज स्वार्थ धर्मके प्रति वफादार बने रहनेके लिये ही कअीबार लडते है। यदि मेरी अेक बालिश्त-भर जमीन पडोसीको देनेसे मेरी कुछ भी हानि न होती हो और मेरे पडोसीको वह मिल जानेसे अुसकी अुत्तम सुविधा हो जाती हो, तो भी मुझसे वह स्वार्थ नही छोडा जाता, मेरा जी ही नही होता। कदाचित् मुझमे अिस वक्त कही सद्बुद्धि आ भी जाय, तो मेरे सगे-सम्बन्धी या अडोस-पडोसके लोग मुझे दुनियादारीकी चतुराअी सिखानेके लिये आते है—'तू पागल तो नही हो गया है? अिस तरह कर्ण-सा दानवीर बनकर परोपकार करने लगेगा तो लोग तुझे दिन-दहाडे बावाजी बना देगे। कुछ बाल-बच्चोके लिये रक्खेगा या नही? अरे! अुसका तो काम ही रुक रहा है, पाँच-सात सौ रुपये माँग ले अुससे। तेरा तो हक ही है, छोडता क्यो है? न दे रुपये तो सोना रहे अपने घरमे! और हमे गरज ही क्या पडी है? जमीन अपनी कही भागे थोडे ही जाती है।' स्वार्थ-धर्मकी यह आज्ञा अस्वीकृत हो ही नही सकती। स्वार्थ-धर्मके आगे पडोसी-धर्म फीका पडता है अथवा नष्ट हो जाता है। अिसलिये

अिस युगका नाम कलियुग पडा है। कलिका अर्थ है कलह।

दो कुटुम्बोंके बीच जब विवाह-सम्बन्ध जोडा जाता है, तब भी यही दशा होती है। जो पराये थे वे सम्बन्धी हुअे, अतअेव वहाँ तो प्रेम-धर्मका व्यवहार चाहिये, पर नही, वहाँ भी व्यवहार-रीतिकी कलह अुत्पन्न होगी ही। मान-सम्मानोमे कही छोटी-से-छोटी रीति भी रहने न पावे। मालिकके यहाँ गालियाँ भी सुननी पडती हो तो परवाह नही, दफ्तरोमे अफसरोकी फटकारें नीचा सिर करके सुन सकते हैं, परन्तु समधीके पाससे तो रीतिके अनुसार पूरी चीजें जरूर ही मिलनी चाहिये, नही तो दूल्हको लौटा लेजानेको तैयार हो जाते है। विवाहका मगलाचरण होता है अीर्ष्या और डाहसे ! यही दशा है जातियोकी। पारस्परिक अविश्वास और असीम स्वार्थ-परता। किसीमे अितनी हिम्मत ही नही कि अपने स्वार्थको छोड दे। यह कायरता ! जहाँ देखिये तहाँ यह बुराअी फैली हुअी है।

जब घरोमे और जाति-पाँतिमे यह दशा है, तब राष्ट्रो-राष्ट्रोके बीच दूसरा और हो ही क्या सकता है ? यदि पडौसी-राष्ट्र निर्बल हो तो अुसपर ज़रूर ही आक्रमण करना चाहिये। यदि वह बलवान हो तो हमेशा अुसका डर मनमे रखना चाहिये और अुसके खिलाफ दूसरे ताकतवर राष्ट्रोके साथ मिलकर कोअी षड्यन्त्र करना चाहिये। यह भी नही कि समान-बल पडोसी हो तो शातिसे रहे। क्योकि मनुष्यको समानता कब प्रिय लगती है ? वहाँ भी अेकसे दूसरा आगे बढनेके लिये प्रयत्न करता रहता है अिसीलिये अन्तमे वहाँ भी अविश्वास और विरोध आ जाता है। हरेक पक्ष यही कहता है, कि अपने बचाव तथा आत्म-रक्षणके लिये हमे अितना तो करना ही पडता है। दो प्रबल राष्ट्रोके बीच यदि अेक छोटा-सा राष्ट्र हो, तब प्रबल राष्ट्र यो विचार करते है —'यदि मैं अिसे न खालूँ तो वह (दूसरा) तो ज़रूर ही अिसे खा लेगा और खाकर बलिष्ठ बना हुआ वह मुझपर ज़रूर आक्रमण करेगा।

अिसलिये क्या बुरा होगा, यदि मै ही वह अन्याय करूँ? जितने साम्राज्य बढते हैं, सब अिसी नियमानुसार बढते हैं।

स्वार्थ और अन्यायकी यह प्रतिस्पर्धा आज यूरोपमे सर्वव्यापी हो गअी है और अिसी सिद्धातपर अुसकी राजनीति चलती है। किन्तु अिससे यह मान लेना भूल है कि यह तो मनुष्य-स्वभाव ही है। भले ही यूरोप आज सुव्यवस्थित पाशविक शक्तिको सुधार मान ले, पर सच्चा सुधार तो प्रेम-धर्म और पडौसी-धर्ममे ही है। हमे श्रद्धापूर्वक अपने अदर अिस पडौसी-धर्मका विकास करना चाहिये। जो सज्जनता दिखलाते हो अुनके साथ मैत्री और जो दुर्जन बन गये हो अुनके साथ असहयोग करना, यही प्रेम-धर्मका नियम है। प्रेम-धर्म सहानुभूति रखता है, सहायता देता है, परन्तु दीन बनकर सहायताकी अपेक्षा नही करता। प्रेम-धर्म निर्भय होता है अिसीलिये वह अमर्यादित है। हम जिससे प्रेम करते हैं, यदि अुसकी शक्ति बढती है तो हमे भय नही होता, बल्कि हमारा मित्र जितना ही निर्बल होगा, अुतने ही हम कमजोर माने जायँगे।

जहाँ अविश्वासका वातावरण हो, वहाँ अुसे दूर करनेके लिये प्रेम असाधारण धैर्य और सहिष्णुताका विकास करता है, नम्र बनकर वह चढता है और असीम स्वार्थ-त्याग करके विजयको प्राप्त करता है। प्रेम-धर्ममे थोडे दिनके लिये गँवाना जरूर पडता है, लेकिन अतमे अुसकी अक्षय विजय होती है। अिस प्रेम-धर्मका अुपयोग कुटुम्बसे लेकर राष्ट्रोके सबध पर्यन्त फैला देना, यही सब सुधारोका मूल है, और वही फल भी है।

: ४ :

सुधारकी सच्ची दिशा

मनुष्यकी स्वाभाविक वृत्तियाँ और अुसकी सद्बुद्धि अेक-दूसरेके अनुकूल (समरस) जब होगी तब होगी, आज तो

वस्तुस्थिति वैसी नही है। आज तो अिन दोनोमे विरोध है। आज तो जो मीठा लगता है वह पथ्यकर नही होता। जो सुखप्रद प्रतीत होता है वह कल्याणकर नही होता। जो प्रेय होता है वह श्रेय नही होता। कर्त्तव्य-मार्ग दुखदायी लगता है और सुखका मार्ग हितकर नही लगता। हमारी स्वाभाविक वासनाअें हमें आप-ही-आप पशु-जीवनकी ओर खीचकर ले जाती हैं। ईश्वरने मनुष्यको वह विवेक-बुद्धि दी है, जो पशुको नही दी। पशुओको कार्याकार्य-विचार नही होता, मनुष्यको यह विचार करना पडता है। पर हमारी वासनाअें कअी बार अितनी प्रबल हो जाती हैं कि विवेक-बुद्धिको दबाकर वे तर्क-शक्तिको अपने अधीन कर लेती हैं और यह तर्क-शक्ति न्यायान्यायका किसी तरह विचार न करनेवाले पेट-भरू वकीलके समान वासनाओका पक्ष लेती है। जो सुखकारी है वही कल्याणकारी है, जो प्रेय है वही श्रेय भी है—अिस तरहकी दलीलोकी पूर्ति करनेमे तर्क-शक्ति खर्च होती है। त्यागके आनन्दको भूलकर भोगकी लालसा वृद्धि पाती है। तर्क-शक्ति भी मधुरवाणीसे कहती है—'मनुष्य-जन्म भोग हीके लिये तो है, नाना प्रकारके विषयोका अुपभोग करना मनुष्यका हक है। अिस अधिकारका लाभ अुसे जरूर अुठाना चाहिये। भोग हीमे तो मानव-जन्मको सफलता है। भोग-क्षमता ही सस्कृति है, यही सुधार है।' अिस तरह अधर्मको धर्म समझनेसे आत्मवचना होती है।

अिस तरह बहुतेरे लोग वासनाओके वश हो गये है। अब तो किसे 'सु' कहे और किसे 'कु' कहे यही नही सूझ पडता। अुच्छृङ्खल मनको तर्क-शक्तिका आधार मिलनेपर आनेवाली अनर्थ परम्पराको कौन रोक सकता है? जिससे आत्म-सयम नही हो सकता, अुसे मनुष्य-जाति कितना ऊँचा चढा सकती है। अिसकी कल्पना किस तरह हो सकती है। अैसे लोग मानव-जातिका ध्येय कैसे निश्चित कर सकते हैं? मानव-जातिका ध्येय क्या है? अुच्च वृत्तियाँ कौन-सी हैं? आर्य-

जीवन कैसा होता है ? अर्हत् पदका मार्ग कौन-सा है ? समाज-का अन्तिम ध्येय क्या है ? आदि विपयोका निर्णय अैसे अन-धिकारी मनुष्य नही कर सकते । धन-लोभके कारण कृपणका हृदय शून्य हो जाता है । अुससे यदि ये ही सवाल पूछेंगे तो वह कहेगा—"धन ! द्रव्य ही तो मानव-जातिका ध्येय है । 'अर्थो हि केवलम्' ।" शृङ्गार-पूर्ण अुपन्यासोको पढनेवाले स्त्री-लपट मनुष्यसे यदि हम पूछेगे तो वह भी तुरन्त 'रम्या रामा मृदुतनुलता" की बाते करने लगेगा । अिसी तरह क्रिकेट और टेनिसके खेलनेवाले कहेगे कि हमारे खेलो हीसे मनुष्य-की अुन्नति होगी । गाना-बजाना, ताश या शतरज खेलना, घुडदौड करना और चिडिया पालना अित्यादि धुनो हीमे जो लोग मस्त रहते है अुनसे पूछा जाय कि, 'भाइयो ! मानव-जातिका अतिम ध्येय क्या है ?' और फिर अुनमेसे अेक-अेकके जवाब सुन लिये जायँ !

अैसे अनासक्त साम्यस्थित मनवाले महात्मा ही, जिन्होने पशु-वृत्तिपर विजय प्राप्त की है और जिनका मन क्षुद्र स्वार्थ-के वश नही है, यह ठीक समझ सकते है कि मनुष्यका श्रेय किसमे है । जिस तरह वादी-प्रतिवादी यह नही देख सकते कि मुकदमेमे न्याय किसके पक्षमे है, निष्पक्ष पच ही अुसे देख सकते है, अिसी तरह मानव-जातिका ध्येय क्या है, अिस बात-को निरपेक्ष और धर्मज्ञ स्मृतिकार—समाजके व्यवस्थापक—ही बतला सकते है । मनुष्य-जाति अपनी पशु-वृत्तिपर विजय प्राप्त करके कितनी ऊँची चढ सकती है, यह बुद्ध, औसा और तुकराम जैसे अनेक महात्माओने प्रत्यक्ष उदाहरणसे बतला दिया है । ससारके सभी देशोमे, सभी जातियोमे, सभी धर्मोमे और सभी युगोमे अैसे दैवी पुरुष अुत्पन्न हुअे है । अिसपरसे सिद्ध है कि प्रत्येक मनुष्य प्रयत्न करनेपर अुस भूमिका तक पहुँच सकता है ।

कहा जाता है कि मनुष्य अपने पुरुषार्थसे क्या-क्या कर

सकता है, कहाँतक अपनी अुन्नति कर सकता है, अित्यादिका यथार्थ पाठ देनेके लिये तथा मनुष्यके लिये अुसका ध्येय निश्चित कर देनेके लिये परमेश्वर अवतार लेकर, मानव-देह धारण करके, मानवी कृतियाँ करता है। अिस कथनका रहस्य भी यही है। ध्येय तो मानव-जातिकी अुन्नतिकी परि-सीमा है। अुसे किसी खास समय खास व्यक्ति और अुस व्यक्तिकी शक्तिके अनुसार बदलना नही होता। अेक भी मनुष्य यदि अिस ध्येयको प्राप्त करके दिखा दे तो समझना चाहिये कि वह असम्भव नही।

अिस दृष्टिसे देखें तो मनुष्यके जीवन-क्रमके दो सिरे होते हैं। अेक सिरेपर विषय-लोलुपता, आहार-निद्रा-भय आदि पशु-व्यवहार-परायणता, स्वार्थ तथा हक होता है, दूसरी ओर निर्विषयता, निर्भयता, अिन्द्रिय-दमन, परोपकार-परायणता और कर्त्तव्य होते हैं। हरेकको अपनी शक्ति और परिस्थितिके अनुसार अिस अुच्च ध्येयको अमलमें लानेका प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु अपने पीछे रहनेवालोको जगली या पापी कह-कर अुनकी हँसी न अुडाना चाहिये। अिसी प्रकार अपनेसे अधिक अुत्साही व्यक्तिओको पागल कहनेसे भी काम न चलेगा। और चाहे कुछ भी हो, अुच्चतम ध्येयको किसी भी समय अशक्य या अप्राप्य करार देना तो सरासर भूल है। क्योकि यदि हम ध्येयको अेक वार भी अुसके अुच्च आसनसे नीचे गिरा देंगे तो अुसका शतमुखसे नही वल्कि अनन्त मुखसे विनि-पात हो जायगा। जो स्थिर नही वह ध्येय कैसा ? और अुस-के लिये स्नेह, दया, सुख और जीवन अिन सभीको तिलाजलि देनेको तैयार होने योग्य निष्ठा मनुष्यमे किस तरह अुत्पन्न हो ? अिसलिये ध्येयको अपनी अुंचाअीमे कभी न गिराना चाहिये। आराध्य-देवताके समान हमेशा अुसीकी अुपासना होनी चाहिये और अुसके साथ अुत्तरोत्तर सालोक्य, सान्निध्य, सारूप्य और सायुज्य प्राप्त करनेका प्रयत्न होना चाहिये। जो

पीछे रह गये हो अुन्हे आगे ले जाना चाहिये। जो आगे बढ गये हो अुन्हे अुससे भी आगे बढना चाहिए। ध्येयको पा जाने तक किसीको कभी न रुकना चाहिये।

सभी सामाजिक सुधार अिस अुच्च ध्येयकी, कर्त्तव्यकी, अिन्द्रिय-निग्रहकी और सयमकी दिशामे होने चाहिये। जो नीचे हो अुन्हे अूंचा अुठा देना चाहिये। जो अूंचे हो अुन्हे नीचे गिराना, पवित्र ध्येयको छोडकर सुखप्रद देख या मानकर अधोगामी ध्येयकी अुपासना करना तो कुधार है, सरासर अध पात है।

आजकल सुधार तो सब चाहते हैं, परन्तु 'सु' और 'कु' के बीचके भेदको कोअी भी नही देखते। पिनल-कोडने जिसे अपराध नही माना, कल पास होकर आज हीसे रौब गाँठनेवाले डाक्टरोने जिसे निषिद्ध नही समझा वह सब करनेका हमे अधिकार है—हम वह जरूर करेंगे। पूर्व-परम्परा, अुच्च मनोवृत्ति, जिसकी रक्षा और विकास आजतक किया, अुस पवित्रताकी भावना, शास्त्र (रूढियोका तो पूछना ही क्या,) सबको हम धता बता देंगे, यह है आजके हमारे समाज-सुधारकोंकी मनोवृत्ति। यह मै नही कहना चाहता कि अिनके कार्यक्रमकी सभी बाते त्याज्य है, मगर, अिन सभीकी जडमे जो वृत्ति है, अुसके प्रति विरोध अवश्य है। अपने सभी सामाजिक व्यवहारमे न्याय और अुदारता होनी चाहिये। किसीपर टीका-टिप्पणी करते समय—मनुष्य-प्राणी स्खलनशील है, अिन्द्रिय-समूह बलवान है, परिस्थितिके सामने मनका निश्चय स्थिर रहना कठिन है, आदि पर ध्यान देकर, यदि किसीसे कोअी भूल हो गअी हो तो—अुस पर क्रोध और तिरस्कार हमे न करना चाहिये, बल्कि दया, अनुकम्पा और सहानभूति ही दिखानी चाहिये। जहाँ सामाजिक अन्याय हो रहा हो, वहाँ अनाथोका रक्षण-पालन करना भी हमारा कर्त्तव्य है। सामाजिक आदर्शको नीचे गिराना कदापि योग्य नही है। और जो सुधार करते है वह अैसे होने

चाहियें जिनसे सामाजिक न्याय, पवित्रता और सामर्थ्य बढे ।

: ५ :

संयममेसं स्कृति

सयम मस्कृतिका मूल है। विलासिता, निर्बलता और अनुकरणके वातावरणमे न सस्कृतिका अुद्भव होता है और न विकास ही। जिस तरह पच्चीस वर्ष तक दृढ ब्रह्मचर्य रखनेवाले-की सन्तान सुदृढ होती है, अुसी तरह सयमके आधारपर निर्माण की हुअी सस्कृति प्रभावशाली और दीर्घजीवी होती है।

ऋपियोने तप और ब्रह्मचर्यके द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त करके अेक अमर सस्कृतिको जन्म दिया। बुद्धकालीन भिक्षुओ और भिक्षुणियोकी तपश्चर्याके परिणाम-स्वरूप ही अशोकके साम्राज्यका और आर्य-सस्कृतिका विस्तार हो पाया। शंकराचार्यकी तपश्चर्यासे हिन्दू-धर्मका सस्कार हुआ। महावीर स्वामी-की तपस्यासे ही अहिंसा-धर्मका प्रचार हुआ। सादा और सयमी जीवन विताकर ही सिख गुरुओने पजावमें जाग्रतिकी। त्यागके झडेके नीचे ही सीधे-सादे मराठोने स्वराज्यकी स्थापना की। वगालके चैतन्य महाप्रभु मुख-शुद्धिके लिये आवश्यकतासे अधिक अेक भी हर्र न रखते थे, अुन्हीसे वगालकी वैष्णव-सस्कृति विकसित हुअी। सयम हीमे नयी मस्कृतियोको अुत्पन्न करनेका सामर्थ्य है। साहित्य, स्थापत्य, सगीत, कला और विविध धर्म-विधियाँ सयमकी अनुगामिनी हैं। पहले तो सयम कर्कश और नीरस लगता है, परन्तु अुसीसे सस्कृतिके मधुर फल हमें प्राप्त होते हैं।

जो लोग कलाके साथ पक्षपात करके सयमकी अप्रतिष्ठा कर देना चाहते हैं वे कलाको भ्रष्ट कर देते हैं और सस्कृति-की जड ही पर कुठाराघात करते है।

: ७ :

खून और पसीना

हम शरीरका मैल पानीसे धो सकते है, कपडोका मैल साबुनसे धो सकते है, बर्तनोके दाग अिमली या किसी अन्य खटाअीसे मिटा सकते है, परन्तु सामाजिक दोप और राष्ट्रीय पाप किस पदार्थसे धोये जा सकते है ? अुसके लिये शाब्दिक प्रायश्चित्त काफी नही है। नदियो या समुद्रमे जाकर स्नान कर लेनेसे काम नही चल सकता। वह तो अन्त करणके प्रायश्चित्तसे और आन्तरिक परिवर्तनसे ही साफ हो सकता है। राष्ट्रीय और सामाजिक पापको धोनेके लिये माधारण पानी काम नही दे सकता, वह तो हमारे खून और हमारे पसीनेसे ही धोया जा सकता है।

अिसीसे ओीश्वरकी योजनाके अनुसार प्रत्येक धर्मकी स्थापनाके पूर्व मनुष्योका गरम खून बहा है। खूनकी दीक्षा हीमे हृदय पलटता है और पाप धुल जाते है। खून हीसे अिस्लाम-धर्म स्थापित हुआ, खून हीसे यूरोप जैसी कडी जमीनमे ओीसाओी-धर्मकी जड मजबूत हुओी, खून हीसे सिख-धर्म फूला-फला, और ओीश्वरेच्छा यही मालूम होती है कि सत्याग्रहभी खून हीके द्वारा विश्वमान्य होगा।

खून और पसीनेमे कोई भेद नही है। जैसे दूध और घी दोनो खून और माँसके निचोड है, वैसे ही पसीना भी मनुष्यके खून हीका द्रव है। किसीपर जबरदस्ती करके अुससे सेवा लेना, अुसका पसीना बहाना, अुसका वध करनेके समान ही है। फर्क यही है कि वह सुधरा हुआ, सूक्ष्म और धीरे-धीरे असर करनेवाला है। गुरु-का-बागमे डण्डोकी मारसे सरकार खून बहावे और हिन्दुस्तानकी दीन प्रजाको अपने सैनिक खर्चको चलानेके लिये निचोड डाले तो अुसमे कोई तात्त्विक भेद नही है। अिसी प्रकार अफ्रिकाके जगली मनुष्योको मारकर खाने और

सेठोके गुलामोकी मजदूरीसे पैसे खानेमे भी कोअी तात्त्विक भेद नही। किसी देश की प्रजाको गुलाम बना, अुससे जबरदस्ती मजदूरी लेकर, अुसे शर्तबन्द कुलियोकी हालतको पहुँचा देना भी अुतना ही बडा मनुष्य-वध है, जितना कि किसी देशपर चढाअी करके अुसके लाखो निवासियोको जानसे मार डालनेमे है।

दूसरेके खूनको बहानेके समान कोअी महापाप नही। अिसी तरह इच्छापूर्वक और ज्ञानपूर्वक अपने खूनका बलिदान करनेके बराबर प्रायश्चित्त भी नही। जिस प्रकार दूसरेका खून लेनेके बदले अुसका पसीना लेनेका अेक नया तरीका ससारमे निकला है, अुसी प्रकार अपने खूनका बलिदान करनेके बजाय अपना पसीना दे देना अधिक सशास्त्र प्रायश्चित्त है। पापी मनुष्य जब चाहे तभी दूसरेका खून कर सकता है, परन्तु दूसरेका पसीना तो अुसके सहयोग हीसे अुसे मिल सकता है। अिसके विपरीत, जहाँ प्रायश्चित्तमे हम खून देनेको तैयार होते हैं वहाँ हम अपना खून तभी दे सकते हैं जब ज़ालिम हमारी सहायता करे। पजाब-सरकारकी सहायता न होती तो शूरवीर अकालियोको धर्मके लिये अपना खून अर्पण करनेका अवसर कैसे मिलता? परन्तु हम अपना पसीना, तो जब चाहे स्वेच्छासे बलिदानमे दे सकते है। अिसमे अत्याचारीकी सहायताकी आवश्यकता नही। राष्ट्रीय प्रायश्चित्तमे आत्मशुद्धिके लिये, स्वतन्त्रता देवीके प्रीत्यर्थ बलिदानमें अपना पसीना, अपना परिश्रम, अविश्रान्त श्रम अर्पण करनेके लिये अपने प्रति निर्दय बनकर काम करने हीका नाम रचनात्मक कार्यक्रम है। रचनात्मक कार्यकी वीरता बाहरसे नही दीखती, किन्तु अुससे अुसका महत्त्व कम नही हो जाता। जिसे स्वराज्यकी आवश्यकता हो, अुसे सदा अपना खून देनेकी तैयारी रखनी चाहिये, और जबतक वैसा मौका नही मिलता, रचनात्मक कार्यमे अपना पसीना बहाते रहना चाहिये, और साथ ही यह निश्चय कर लेना चाहिये कि मै न

तो किसीका खून बहानेका पाप करूँगा और न किसीसे अुसका पसीना बहा कर अनुचित लाभ ही अुठाअुगा।

: ८ :

अेशियाकी साधना

दक्षिणमे ब्राह्मण-अब्राह्मणका झगडा कितने ही वर्षोसे चल रहा है। ब्राह्मणोको तो हम जानते ही है। परन्तु अब्राह्मण-वर्ग कहाँसे अुत्पन्न हो गया? अब्राह्मण नामकी कोअी अेक जाति तो है नही, फिर भी अेक अब्राह्मण-पक्ष खडा हो गया है। ब्राह्मण और अब्राह्मणके प्रश्नमे जरा भी पडे बिना हम कह सकते है कि ब्राह्मणोमे ब्राह्मणत्वका अभिमान और अिस बातका भान कि हम दूसरोसे जुदे है, अब्राह्मण-वर्गके खडे होनेका एक कारण है। ब्राह्मणोमे यह जातिका अभिमान तीव्र होनेके कारण दूसरोमे विरुद्ध भावना पैदा हुअी है।

आजकी हमारी अेशिया-विषयक भावना भी ऐसी ही है। जबसे यूरपके लोग भौतिक शास्त्रो और आसुरी राजनीतिमे निपुण हुए, तबसे अुन्होने अपने अन्दर परस्पर मत्सर और वैरके होते हुअे भी आमतौरपर अपनी अेकताको अच्छी तरह कायम रक्खा है, और यूरोपके बाहरी देशोपर धावा बोल दिया है। जो लोग इस आक्रमणका शिकार हुअे है अुनमे अपने अन्दर अैक्य कर लेनेकी भावना आगे-पीछे अवश्य हो जायगी, और यही कारण है जो हमारे अन्दर अेशियाकी अकताकी कल्पना फैलने लगी है। अेशियाकी अेकताकी कल्पनाके मूलमे यदि यही अेक कल्पना हो, तो भी वह अेकता सकारण तो मानी जा सकती है, परन्तु होगी वह कृत्रिम ही।

परन्तु अेशियाकी अेकता युरोपियोके उत्कर्ष जितनी आधुनिक नही, वह तो बहुत ही पुरानी और गहरी है। चीन और जापान, रूस और मध्यअेशिया, तुर्किस्तान, अरबस्तान, ईरान और हमारा हिन्दुस्तान—ये सभी देश प्राचीन कालसे परस्पर

अेकताके सूत्रमे बंधे हुअे हैं। पर उस वक्त यूरोप जुदा नही था। यूरेशिया (यूरोप+अेशिया) अेक अखण्ड भूखण्ड था और यद्यपि आज वह उतना अखंड न रह गया हो तो भी, अन्तमे वह अखड ही होने वाला है।

ससारकी आजकी स्थितिका विचार करके भविष्यका विचार करते समय यदि समस्त ससारके साथ हमारे सम्बन्ध ध्यानमे लेकर विचार किया जाय तभी हमे अपना मार्ग साफ दिखाअी दे सकता है। फिर हम बाहरी ससारसे चाहे कितने ही अलग रहना चाहते हो, तो भी ससार कहाँ अैसा है जो हमें अलग रहने दे ?

बहुतेरोका कहना है कि युरोपीय और हिन्दुस्तानी दोनोंके हित अेक-दूसरेके विरोधी होनेके कारण दोनो जातियाँ चाहे जितनी लड़, परन्तु दोनोका जीवनके आदर्शके विषयमे खास तरहका अेक मन है। पर दोनोके राजनीतिक आदर्श और सामाजिक कल्पनाअोमे, व्यापक दृष्टिसे देखा जाय तो, अेशियाके अन्य देशोकी अपेक्षा साम्य और आकर्षण अधिक है। चीनी और भारतीय लोगोमे जितनी सामाजिक अेकता है, अुससे कही अधिक युरोपीय और भारतीय लोगोमे है। हिन्दू-धर्म और अिसाअी-धर्म अिन दोनोमे जितनी समानता है, अुतना हिन्दू धर्म और अिस्लाममे नही। राष्ट्रीय अथवा सामाजिक आकर्षण देखते हुअे, हम अेशियाके और देशोकी अपेक्षा यूरोपके अधिक निकट हैं। अिसलिये हमे यूरोपके साथ लड झगड कर भी अपना सम्बन्ध बढाना चाहिये। अेशियाअी अेकता भौगोलिक अथवा प्रादेशिक अेकता है, परन्तु यूरोपके साथ हमारी अेकता उच्च दृष्टिसे देखनेपर सास्कृतिक अथवा जातीय है। जैसे अेक लकडीके दो सिरे परस्पर-विरुद्ध दिशाअोमे होते हुअे भी जिस तरह लकडी तो अेक ही है, अुसी तरह युरोपीय और भारतीय आदर्श, परस्पर-विरोधी होनेपर भी अेक ही आर्य-आदर्शकी शाखाअे है।

यह दलील निःसार नही है। यूरोपकी वर्तमान संस्कृति आसुरी है (राक्षसी नही) और हिन्दुस्तानकी संस्कृतिका आधार-भूत आदर्श दैवी है—यदि यही मान लिया जाय, तो भी देव और असुर दोनो भाअी-भाअी है, यह बात हमारे पुराणकर्ताओ-ने ही स्वीकार की है।

यूरोपके साथ हमारा परिचय मजबूरीकी हालतमे बढा, असलिये हम यूरोपके साथ थोडे-बहुत अंशोमे परिचित हुअे। असी तरह अिस्लामके साथ भी हमारा परिचय अनिच्छापूर्वक ही हुआ, और हम अिस्लामकी कद्र करना सीखे। अब ओश्वर-का सवाल है कि क्या संसारकी अेकताका अनुभव करनेके लिये चीनी संस्कृतिके साथ स्वेच्छापूर्वक परिचय प्राप्त करना है, या वह भी मैं जबरदस्ती करा दूँ? यदि अपने-आप परिचय बढाओगे तो स्वतन्त्र रहोगे, जबरन बढवाना चाहोगे तो अुसका मूल्य चुकाना पडेगा।

यदि अेशिया, यूरोपके सर्वभक्षी धनलोभ और सत्तालोभसे डरकर यूरोपका सामना करनेके लिये अेक हो जायँ, तो वह आसुरी संघ होगा, क्योंकि वह संघ यूरोपकी तरह ही स्वार्थ-मूलक होगा, जिसमे क्षण-क्षणमे संधि और विग्रहके रंग बदलते रहेंगे और अन्तमे सारा यूरोप अेक तरफ और सारा अेशिया दूसरी तरफ होकर अेक अैसा महायुद्ध या अतियुद्ध चेतेगा कि जिसके अन्तमे मनुष्य-जाति और मानवी संस्कृतिका लगभग संहार हो जायगा और हजारो वर्षोका मानव-पुरुषार्थ मटिया-मेट हो जायगा। सर्वोदयका आदर्श अपने सामने रखनेवाले लोग भला अैसा क्यो होने देंगे?

यूरोपका विरोध करे या न करे, मनुष्यजातिकी अेकताको दृढ करनेके लिये, दया-धर्म या शान्तिका साम्राज्य स्थापित करनेके लिये, अेशियाको अेक होजाना चाहिये।

और अेशिया अेक होना चाहता भी है। हमारा खिलाफत-का आन्दोलन अेक तरहसे अेशियाअी अेकताकी नीव थी।

अिस्लामके साथका हमारा सम्बन्ध पुराना है।

हम लोगोने अेशियाकी अेकताका प्रारम्भ खिलाफतसे किया है। किन्तु यह अेकताकी कल्पना कुछ आजकी नही है। दिग्विजयी आर्य राजाओने चीनसे मिस्रतक और अुत्तर ध्रुवसे कुछ नही तो लका और बालीद्वीप तक सास्कृतिक अेकता स्थापित करनेके प्रयत्न किये है। और अिस अेकतामे आर्य लोगोने अपने पडोसियोको जितना दिया है, अुतना अुनके पाससे नि सकोच लिया भी है, अलबत्ते लिया है अपनी उच्च अभिरुचिके अनुसार पसन्दगी करके। मै मानता हूँ कि धर्मराजका राजप्रासाद बनानेवाला मयासुर चीनदेशीय था और अुसकी स्थापत्यकला बृहस्पति तथा शुक्राचार्य दोनोकी कलासे भिन्न थी। यह भी माना जाता है कि चीन देशकी चित्रकारी और नृत्यकलाका प्रभाव भारतीयो कलाओपर हुआ होगा।

अितिहासकारोकी रायके अनुसार अेक समय अेशियाकी कला-कुशलताका केन्द्र समरकन्द और खोतानके आसपासके देशमे था। वहाँसे व्यापारके अनेक मार्ग भिन्न-भिन्न दिशाओमे जाते थे। अेक रास्ता चीनकी ओर जाता था, अेक हिन्दुस्तानकी ओर आता था, अेक मिस्र देशमे जाता था, और अेक यूरोपमे। अिस तरह वाणिज्य-व्यापारके साथ संस्कृतिका भी विनिमय अिस मध्यभूमिमे होता था। जनार्दनकी अिच्छा हुअी कि थोडे दिनोके लिये ये सिरे अेक-दूसरेसे अलग होकर कुछ-कुछ भिन्नताकी शिक्षा प्राप्त करें। बस, तुरन्त ही बालूके समुद्र अुछलने लगे और अुन्होने अमू दरिया और सर दरियाके देशको अुजाड कर दिया। आज भी, जब भारी आँधी आती है, और बालूके परत अुड जाते है, इस प्राचीन सस्कृतिके अवशेष वहाँ मिलने लगते है।

आर्य लोग पहलेसे ही यात्रा-प्रवीण थे। पहाड देखते ही अुन्हे अुसे पार करनेकी अिच्छा हुअे बिना नहीं रहती। नदीको देखकर तो असके अदगम-स्थानकी खोज करने [illegible]

रहते। आर्योंका देवता अिन्द्र भुज्युको समुद्रके पार ले गया था। आर्य राजा हरेक राजसूय-यज्ञमे चीन और मिस्रके राजाओको आमन्त्रित करते थे। अशोक राजाने चारो दिशाओमे बौद्ध-धर्मका प्रचार करने तथा अभयका सन्देश सुनाने के लिये आर्यों और अर्हतोको भेजा था और अुस दिव्य सन्देशको सुननेके बाद दयामय धर्मराज भगवान् बुद्धके देशकी यात्रा करनेको दिग्दिगन्तके यात्री आने लगे थे।

अेशियाकी अेकता साधनेकी सम्पूर्ण शक्ति धारण करनेवाला तत्त्व तो महायान बौद्ध-धर्म ही था। महायान बौद्ध-धर्ममे भगवान् बुद्धका अुपदेश, तन्त्रमार्गकी लोकप्रिय विधियाँ और अनेक देवी-देवताओके वृन्द तो थे ही, पर अिसके अुपरान्त दु:खसन्तप्त मनुष्यको दिलासा देनेवाला और परोपकारी वीर पुरुषोको आकर्षित करनेवाले बोधिसत्वका आदर्श भी था। जब महायान पन्थका प्रसार हुआ, तब हिन्दुस्तानका चीन देशके साथ अीरान, वेक्ट्रिया आदि पश्चिम अेशियाके साथ और स्वर्णद्वीप (ब्रह्मदेश)के साथ, सम्बन्ध घरके आँगनके समान हो गया था। अिसके बाद धर्म-साम्राज्यकी कल्पना अरबस्तानमे पहुँची और अुसने तीन खण्डोमें अेकेश्वरवाद (वहदत) और समताका सन्देश पहुँचाया। अब भी यह धर्म मध्यअेशिया और अफ्रिकामें नये-नये लोगोको अल्लाताला और अुसके नबी साहबके चरणोमे लानेका काम करता है। जब मुसलमान धर्मका अुदय हुआ तब हिन्दुस्तानके धर्म-धुरन्धर ब्राह्मण और श्रमण तिब्बत और चीनमे जा बसे थे। हिमालय और हिन्दूकुशके अुसपार अनेक मठोमे हिन्दुस्तानके प्राचीन संस्कृतिके साक्षीरूप साहित्य, स्थापत्य और कलाके नमूने मौजूद है। हिन्दुओकी परमपवित्र यात्रा कैलास और मानसरोवरकी है। अिसके द्वारा हिन्दू और चीनी संस्कृतिका लेन-देन अखण्ड रूपमे होता रहता था। आज भी वह कुछ अंशोमे चल ही रहा है। जहाँ जहाँ हिमालय पार करके अुत्तरकी ओर जानेके रास्ते है

वहाँ-वहाँ आर्य-संस्कृतिके थाने—तीर्थस्थान खडे हैं।

हिन्दुस्तानका शिष्य-समूह जितना हम जानते है असुससे कही वडा है। चीनी और जापानी लोग हिन्दुस्तानको आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। तिब्बत-यात्राके मार्ग फिरसे खुलने लगे हैं। हिन्दुस्तानका अहिंसाका मार्ग सारे ससारमे विख्यात हो गया है। यूरोप और अेशियाके बीचके युद्धमे यदि हम अहिंसा-धर्म को प्रधान पद देंगे तो चीन देशमे असुसका प्रभाव जापानके अूपर पडेगा, और अिस तरह केवल अेशियाकी ही नही, वल्कि सारे ससारकी अेकता करनेके लिये आवश्यक वायुमडल तैयार हो जायगा।

अेशियाको अवश्य अेक हो जाना चाहिये, किन्तु किसलिये? स्वार्थके लिये नही, वल्कि यूरोपमे जो स्वार्थ-परायण साम्राज्यवादकी वाढ आ गअी है असुसका नाश करनेके लिये और धर्मका साम्राज्य स्थापित करनेके लिये।

: ९ :

वीर-धर्म

हिन्दुस्तानके महत्वपूर्ण प्रश्नोमे दरिद्रताका प्रश्न अेक है। जिस जनताको दो वार पेट भर खानेको भी न मिलता हो, असुसका चित्त किसी दूसरे प्रश्नकी ओर कैसे जा सकता है? असिकी फाकेकशीको दूर करनेपर ही जनताको कुछ सूझ पडेगा और अपने जीवनमे सुधार करने योग्य उत्साह असुसमे आवेगा। सुवहसे शाम तक, एक चौमासेसे दूसरे चौमासे तक, और जन्मसे मरण तक, यही एक प्रश्न गरीब भारतके सम्मुख हमेशा खडा रहता है कि गरीबीको कैसे दूर किया जाय?

देहातमे कई स्थानो पर मनुष्य कितना ही वीमार हो जाय, वह अेक दिन भी दवा नही ले सकता, न विश्रान्ति ही, क्योंकि यदि वह आराम ले तो खाये क्या? यदि डाक्टरको कुछ पैसे देने हो तो एक दिनकी अपनी खूराक काटकर ही वह दे सकता

है। गरीबीके कारण मनुष्यका तेजोवध भी होता है। वह अन्यायको अपनी आँखो देखता है, किन्तु उसका प्रतिकार नही कर सकता। वह देखता है कि मै ठगा जा रहा हूँ, किन्तु फिर भी वह अुस ठगाओसे बच नही सकता। गरीबीके कारण अुसे स्वाभाविक दया, माया और ममता भी छोड देनी पडती है। पुत्र-स्नेहवत् पाले हुए बैलो और भैसोसे अुनके बूतेके बाहर अुसे काम लेना पडता है। निर्दय बनकर अुन्हे मारना-पीटना भी पडता है।

सबसे बडा आश्चर्य तो यह है कि गरीब देहातीको अिसीलिये अक्सर ज्यादा खर्च करना पडता है कि वह गरीब है। अिसीलिये अुससे अधिक सूद लिया जाता है, क्योकि वह गरीब होता है। अुसे रिश्वत देने पर ही नई-नई सुविधाओका लाभ मिल सकता है। थोडेमे यो कहना चाहिये कि वह गरीब होता है, अिसीलिए अुसे और भी अधिक गरीब बनाना पडता है। अिसका अुपाय क्या है? कानूनके द्वारा अिसकी रक्षा नही हो सकती। बडे-बडे अधिकारियोके दौरोसे भी उनकी हालत नही सुधर सकती। अुलटे अैसे प्रसगोपर तो गरीब बेगार करते-करते अधमरे हो जाते है। अदालते गरीबोको ही दबानेका काम करती है। सभी लोग गरीब किसानोपर अपना निर्वाह करते है। गरीब किसान सारी दुनियाको खिलाता है, परन्तु अुस बेचारेको खिलानेवाला कोअी नही मिलता।

अिसका अुपाय क्या है? हम तो अिसका अेक ही अुपाय बतला सकते है, और वह है स्वावलम्बन। किन्तु जिस मनुष्यपर सारा समाज अवलम्बित है, अुसके सम्मुख स्वावलम्बनकी बात करते हुअे हमे लज्जा आनी चाहिये। अुस बेचारेके अपने बाल-बच्चे होते है, मा-बाप और भाअी-बहन आदि होते है, और वह यह सब कुछ अिसलिये सह लेता है कि अुनकी दुर्दशा न होने पावे, वरना वह कभीका या तो बागी बन गया होता, या भभूत रमाकर वैरागी ही हो गया होता। अुसके दुःखो-

को कौन दूर कर सकता है ? हम जो कुछ भी आन्दोलन करते हैं, वह सब शहरोमे ही होता है। व्याख्यान शहरो हीमे होते हैं; शिक्षाके लिये खर्च शहरो हीमे होता है, समाचार-पत्र भी शहरो हीमे पढे जाते हैं, दवा-दरपनकी सुविधाअे भी तो शहरो हीमे होती हैं; सुख और सुविधाके सभी साधन शहरो हीमे मिल सकते है। तब अिन देहाती गरीबोका आधार क्या है ?

विचार करनेसे ज्ञात होगा कि गरीबकी औषधि गरीबी ही है। जिस देशमे करोडो मनुष्य भूखे रहते हैं अुनकी भूख मिटानेके लिए हजारो और लाखो युवकोको स्वेच्छापूर्वक धार्मिकतासे गरीबी धारण करनी चाहिये। अंग्रेजी शिक्षाके कारण अिस विषयमे हम बहुत ही कायर बन गये हैं। आज तो मनुष्य मृत्युसे, धर्म-द्रोह और देश-द्रोहसे अितना ही डरता है जितना कि वह ग़रीबीसे डरता है। जिस देशमे स्वेच्छापूर्वक धारणकी हुई गरीबीकी प्रतिष्ठा सर्वोपरि थी, आज अुसी देशमे हरेक शिक्षित युवक कायरकी तरह गरीबीसे भागता फिरता है। रूसमे अकाल फैला हुआ था। लोगोका दु ख असह्य था। अुसे देखकर साधु टॉल्स्टॉय घर-बार छोडकर भिखमगा बन गया। बाह्य दृष्टिसे देखनेमे अुसका क्या लाभ हुआ ? गरीबोकी सख्यामे और भी अेक आदमी बढा दिया, बस यही न ? अर्थ-शास्त्री अिसका अुत्तर नही दे सकते, क्योकि अुनके शास्त्रमे आत्माके लिये स्थान ही नहीं। पर टॉल्स्टॉयने भिखारी बनकर ससारकी आत्माको जागृत किया, ससारके अैशोआराममे डूबे हुअे हजारो मनुष्योको फाकेकशीका और अुसके मूलभूत कारण अन्यायका प्रत्यक्ष दर्शन करा दिया।

शिक्षित लोग कहते हैं—'आपकी बात सच है, किन्तु हमारे बाल-बच्चोका क्या होगा ? जिस स्थितमे रहनेकी आदत अुनको पड गअी है, अुसमे तो अुन्हे रखना ही होगा ? क्या यह अुचित है कि हमारे विचारोके कारण वे कष्ट सहे ?' मै कहूँगा, 'जरूर। अिसमे कुछ भी अनुचित न होगा। यदि आपकी

विभाग करके देखले, पर अिस तरह संसारमे कदापि शान्तिका साम्राज्य नही होगा ।

यूरोपमे थोडेसे लोगोके हाथमे सारा धन है । निस्सन्देह यह स्थिति विषम है । परन्तु यदि निर्धन लोग भूखे भेडियेकी तरह हमेशा अुस सम्पत्तिको लूटने की ताकमे रहेगे तब तो वह विषमता और भी भयंकर हो जायगी । पर यह बात निर्धनोके खयालमे नही आती । अुनमे अितनी श्रद्धाका उदय होना जरूरी है कि धनिकोको बिना लूट भी अुनकी और धनिकोकी विषमता दूर हो सकती है ।

अिसके लिये निर्धनोको कुछ करना चाहिये । अगर वे लोभका त्याग करके सन्तोषको अपनाव, और अपनी आवश्यकताओको घटाकर अत्यन्त स्वाभाविक जरूरतोको स्वावलम्बन द्वारा पूरी करना सीख ले तो वे देखेगे कि न तो धनवानोके पास अधिक धन जा रहा है और न वहा एकत्र ही हो रहा है । बडे पैमाने पर वस्तुओको पैदा करना और अुन्हे देश-देशान्तरोमे भेजना अथवा संक्षेपमे विराट् रूपसे श्रम विभाग करना ही इस विषमता का मूल कारण है । अिस विषमताको दूर करने हीके लिये स्वदेशी धर्मका अवतार हुआ है । स्वदेशीके पालनसे कोअी भी मनुष्य धनिक न हो सकेगा, और न अुससे किसी मनुष्यके निर्धन होने का ही डर है । यदि हम एक जगह अूंचा टीला बनाते है, तो दूसरी जगह अवश्य ही गड्ढा बन जाता है । जहा सधनताका अभाव है, वही निर्धनताका भी अभाव हो सकता है । सम्पत्ति और दारिद्रय दोनो सनातन पडोसी है । दोनोका नाश अेक साथ ही हो सकता है ।

परमात्माकी कृपा होगी तो अवश्य आगेके जमानेके लोगोमे दो वर्ग होगे—अेक धन-परायण और दूसरा सन्तोष-परायण । अेक होगा साम्राज्यवादी और दूसरा होगा स्वराज्यवादी । अेक होगा सत्तावादी और दूसरा होगा सत्यवादी । अेक आनंद

जमाना चाहेगा, दूसरा दयाका शीतल स्रोत वहावेगा। अेक अहकारवादी और दूसरा सतोपी।

: ११ :

प्रतिष्ठाकी अस्पृश्यता

हवा सर्वत्र चलती है, सभीको छूती है और ससारकी अेकरूपता सिद्ध करती है। स्वर्गके देवता और कब्रके मुर्दे हवाके विना अपना काम चला सकते हैं। दोनो अस्पृश्य हैं। ईश्वरकी अिच्छा है कि पृथ्वी तो पृथ्वी ही वनी रहे। परन्तु कअी लोग अपने यकतरफा विचारके प्रवाहमे वहकर अिस भूलोकपर स्वर्ग और नरककी सृष्टि खडी करना चाहते हैं। मुरदा सडता है, मुरदेमे प्राण नही होता, मुरदा पृथ्वीके लिये भाररूप है, इस लिये अुसे कोअी छूता भी नही, अितना ही नही वल्कि दफनाकर या आगसे जलाकर लोग अुसे नष्ट कर देते हैं। देवता हमे छूते नही। परन्तु वे अिस भूलोकपर विचरते भी तो नही। जव अुन्हे विचरना होता है, तव वे मानव-रूप धारण कर लेते हैं, वे मनुष्योके-से व्यवहार करते है, तभी वे मनुष्योमें हिलते-मिलते हैं। जव वे (देवता) अैसा करनेसे अिन्कार करते हैं, तव अुन्हे पत्थर वनकर मन्दिरोकी कैद भुगतनी पडती है।

हमारे समाजमे अिसी तरहके दो अस्पृश्य-वर्ग देखनेमे आते हैं। अेक अन्त्यजोका और दूसरा अग्रेजो (ब्राह्मणो) का। जिस प्रकार ढेड—मेहतर अस्पृश्य हैं, अुसी प्रकार शकराचार्य भी अस्पृश्य हैं। हम दोनोकी श्रेणियोमे वैठकर भोजन नही करते। हम दोनोसे हाथ-भर दूर रहते है। दोनोंको वेदका अधिकार नही और अिसलिये दोनोको समाजमे स्थान भी नही है। समाजमें अुनकी स्थिति खतरनाक है। यदि अुन्हे समाजमे शामिल करना हो तो पहले अुनकी अिस अस्पृश्यताको दूर करना जरूरी है। यदि अन्त्यजोको समाजमे अस्पृश्यही वनाये रक्खेंगे तो सामाजिक दुर्गन्ध वढेगी। अुसे दूर करनेके दो ही अुपाय हैं।

या तो हिन्दूसमाजसे अुनको निकाल दिया जाय, या अुन्हे स्पृश्य मान लिया जाय। ब्राह्मण-सस्कृतिके प्रतिनिधि शकराचार्यको भी चाहिये कि वह मनुष्यकी तरह समाजमे विचरे, समाजकी स्थितिपर विचार कर और धर्मोपदेश द्वारा समाजकी सेवा करे। यदि वे अैसा न करते हो, तो अुन्हे चाहिये कि वे लोगोकी सेवा—पूजामात्र ही स्वीकार करनेवाली मूक-मूर्त्ति बन जाय। वेद-विद्याको भी हमने अिसी तरह बना रक्खा है। वेद अितने पवित्र है कि अुनका अर्थ तक नही किया जा सकता! सस्कृत-भाषाकी भी यही दशा हुअी है। सस्कृत तो ठहरी देवताओकी वाणी, मनुष्य अुसका व्यवहार कैसे कर सकते है? फलत अुसे जड, निर्जीव, वीतप्राण ही हो जाना पडा। अिस प्रतिष्ठाकी अस्पृश्यतासे देववाणीको और भूदेवोके समुदायको कौन अुबारेगा? जब शरीरके पैर और सिर भी समाज-सेवाके लिये अयोग्य हो जाय, तब मनुष्यको पेटके बल चलना पडे तो क्या आश्चर्य?

समाजको पगु न बनाना हो तो शकराचार्योको अपनी अस्पृश्यताको त्याग कर समाजमे सम्मिलित होना चाहिये और अन्त्यजोकी अस्पृश्यताको दूर कर अुन्हे भी शामिल कर लेना चाहिये। अैसा करनेसे ही धार्मिक अन्धकार नष्ट होगा और हिन्दू-धर्मके सिरका काला धब्बा मिटेगा। केवल दिन-दिहाडे मशाले जलाकर चलनेसे क्या होना-जाना है?

१२

अन्त्यज-सेवा

जिसमे समभाव न हो वह सेवा नही कर सकता। समभावके मानी दया नही, परोपकार करनेकी वृत्ति नही, बुजुर्गी या शिष्टता नही। समभावका अर्थ है प्रेमकी समानता, समभावका अर्थ है आदर, समभावका अर्थ है जाननेकी अिच्छा, समभावका अर्थ है भावना और आदर्शकी समानता।

अन्त्यजोकी या अन्य किसी भी जातिकी सेवा तो समभाव ही से होनी चाहिये। अहङ्कारी मनुष्य तिरस्कारसे भी सेवा कर सकता है, अज्ञानी मनुष्य अज्ञानतासे भी सेवा कर सकता है, परन्तु वह सच्ची सेवा नही। अेक कहानी है कि अेक स्त्रीने देखा कि अुसके सोये हुअे पतिके गालपर अेक मक्खी बैठी है, अुसने सेवा-भावसे अुस मक्खीको अितने जोरसे अेक चाटा लगाया कि पतिके गालसे खून निकलने लगा।

हमारा गृह-जीवन, हमारा धर्म, हमारा साहित्य अिन सभीके विषयमे अपने दिलमे असीम तिरस्कार धारण करते हुअे और अुसे प्रकट करते हुअे भी कितने ही गोरे हमारी सेवा करते हैं। हम सभी मानते हैं और हमे अनुभव भी है कि अुनकी यह सेवा हमे कितनी प्यारी और हितकारिणी है। जो लोग परदेशसे आकर अपने वडप्पनका सिक्का जमाना चाहते हैं अुनकी सेवासे हमे अैहिक या बौद्धिक लाभ भले ही होता हो, किन्तु अुससे हमारी आत्माका-हनन ही होता है। जो हममे मिल कर रहते हैं, हमे समझनेकी कोशिश करते हैं, हमारे ढङ्गसे काम करते हैं, वे ही हमारे गुण-दोपको समझ सकते है। हमारे गुणोसे वे प्रसन्न होते है और अुन्हे विकसित करनेके लिये सहायता करते हैं। हमारे दोपोसे वे लज्जित होते हैं और अुन्हे दूर करनेके हमारे प्रयत्नोमे प्रेम और समभावसे सम्मिलित होते हैं। वे हमारे सेवक वने रहना चाहते हैं, अुनको वडप्पन देनेपर भी वे अुसे ग्रहण नही करते।

जो अभिमानी होते हैं, अज्ञानी और लापरवाह होते हैं, वे अच्छे-वुरेकी अपनी कसौटी साथ-साथ लिये घूमते हैं। जो अुन्हे अच्छा न लगता हो अुसे हमे छोड देना चाहिये फिर चाहे वह हमे कितना ही प्रिय और अनुकूल हो। अुसी प्रकार जिसे वे प्रिय समझें वह हमे कितना ही अनुचित लगता हो तो भी हमे अुसे धारण करना चाहिये। चिकनी मिट्टीके घोडेको

तोडकर हमे यदि अुसका साँप या गणपति बनाना है तो पुरानी आकृतिको तोडकर हमे अुसे बिलकुल नया आकार देना पडता है। अुसी प्रकार वे हमारे समाजको भी समझते है। किन्तु समाज कुछ चिकनी मिट्टी तो है नही, और यदि हो भी तो विदेशियोके लिये कदापि नही।

जो नियम हमारे लिये है वे ही अन्त्यजोके लिये भी हैं। आराम कुरसी पर बैठकर हम निश्चित करते है कि अन्त्यजोके लडकोंको अिस तरहकी पोशाक पहननी चाहिये, अुन्हे अितने विषय जानने चाहिये, अितने अुद्योग सीखने चाहिये, और अमुक-अमुक विचारोको छोड देना चाहिये, अथवा धारण कर लेना चाहिये। अन्त्यजोके लडकोको लेकर चिकनी मिट्टीके समान अुन्हे अपनी कल्पनाके अनुसार हम बना लेना चाहते है।

'अन्त्यजोका और हमारा धर्म अेक ही है। हम दोनो अेक ही समाजके अग है। हम अनादि कालसे अन्त्यजोके प्रत्यक्ष गुरु नही तो अुनके अगुआ तो जरूर ही है। वे हमारे आश्रित, हम अुनके अभिभावक, यह सम्बन्ध चला आता है, और अिसी लिये अन्त्यजोके अुद्धारका मार्ग निश्चित करनेका अधिकार और योग्यता भी हम रखते है।' अिस तरहका यदि कोअी दावा करे तो वह अयोग्य होगा, सो नही। परन्तु बहुतेरे अधीर बनकर अन्त्यजोका अुद्धार करते-करते अपने समाजसे भी अलग हो गये है। हमने अपने धर्म-विचार निश्चित नही किये। हमने अभी यह भी निर्णय नही कर लिया कि सामाजिक जीवनमे कौन-सी व्यवस्था अच्छी है। जितना पुराना है अुसे सरलतासे तोडनेमे लग है, परन्तु हमने अभीतक अिसका विचार नही किया कि अुसकी जगहपर नया क्या अुपस्थित किया जाय, अथवा क्या अुपस्थित किया जा सकता है। और अन्त्यजोके सुख-दु ख मे अुनके सहयोगी बनकर अुनकी जीवन-यात्राको आसान बनानेकी बात तो हमे अभीतक सूझी भी न थी। फिर हम किस तरह अुनके भाग्य-विधाता बनेंगे?

अिसका यह अर्थ नही कि, हम अुनकी सेवा नही कर सकते पर सेवा करनेसे पहले हमे अुनके हृदय और अुनकी स्थितिको अच्छी तरह जान लेना जरूरी है। अुनकी शक्ति और अशक्तिकी परीक्षा करनी चाहिये। अुनकी धारणाओके आधारभूत कारणोको खोजना चाहिये। अुनकी धारणाओ और रिवाजोकी जडमे महत्त्वपूर्ण कारण होते है। हमें अिसका पता लगाना चाहिये कि वे कारण कौनसे हैं, जिन्होने अन्त्यजोमें थोडा-बहुत काम किया है, अुनका अनुभव प्राप्त करके अत्यन्त नम्रता और समभावसे अन्त्यजोकी सेवाका श्रीगणेश करना चाहिये।

अन्त्यजोकी अस्पृश्यता दूर करते ही अुनके कितने ही दोष तो अपने-आप ही दूर हो जायगे। स्पृश्य समाजमे मेल-मिलाप बढते ही अनायास अुन्हे कितने ही सस्कार मिलने लग जावेंगे। अनका अुत्तरदायित्व बढ जायगा, जिसको पूरा करनेके लिये हमें अन्हे समभावपूर्वक सहायता करनी चाहिये।

और खासकर यह ध्यानमे रखना चाहिये कि, जहाँ-जहाँ अन्त्यज स्पृश्य समाजमे सम्मिलित हो, वहाँ-वहाँ अन्त्यजोके स्वभावमे अितनी नम्रता और मधुरता तो जरूर बनी रहे कि सभी लोग अुनका प्रेमपूर्वक स्वागत करने लग जाय। अन्त्यज-सेवकोको अिसकी खूब चिन्ता रखनी चाहिये। अन्त्यजोकी जातिके प्रति जो रूढ तिरस्कार है अुसके स्थानपर यदि पढे-लिखे अन्त्यजोकी अुद्धतताके कारण समाजमे नया तिरस्कार अुत्पन्न हो जायगा तो अुसे दूर करना कठिन होगा। कअी लोगोके मनमें अस्पृश्य भावनाका अश मात्र भी नही होता, गन्दे, शराब पीनेवाले मेहतरोके साथ भी वे बन्धु-प्रेमसे बातें कर सकते हैं किन्तु अैसे लोगोंके लिये भी कअी बार कितने ही पढे-लिखे और अुद्धत अन्त्यजोकी भाषा और अुनकी अपेक्षाअें—आशाये बरदाश्त करना कठिन हो जाता है। यह दोष है अुस शिक्षाका जो हमने अुन्हे दी है। हम अन्त्यजोको स्पृश्य-समाजमे स्थान देना चाहते है, वह अुनका

हक्क भी है। छूत पाप है, अन्याय भी है, परन्तु अुस अन्याय-को दूर करनेके लिये स्पृश्य समाजका अपमान कर अुनके साथ तुच्छताका बर्ताव करके अन्त्यज अपना कल्याण नही कर सकते। अभीतक जिस नम्रताको भय या अज्ञानके कारण किया था, अुमीको अब अुन्हे ज्ञानपूर्वक और स्वाभिमान पूर्वक धारण करना चाहिये। वहम और भय का त्याग करना चाहिये, नम्रताका नही। जिस प्रकार वकील-मुअक्कलका पक्ष लेकर अुसे लडाते है, अुसी प्रकार यदि हम अन्त्यजोका पक्ष लेकर अुन्हे स्पृश्यवर्गके साथ लडा देगे तो अुमसे कुछ दिन तक हम अन्त्यजोमे भले ही लोक-प्रिय हो जायँगे, और स्पृश्य समाज भी हमसे डरने लग जायगा, किन्तु यह समाज-सेवकका पवित्र कार्य कदापि न कहा जायगा।

मनुष्यके लिये यदि अत्यन्त पवित्र और अत्यन्त सूक्ष्म कोअी वस्तु हो तो वह है मनुष्य-समाज। अुस समाजकी व्य-वस्थामे हम जब कभी हाथ डालेगे तब हमे वह अत्यन्त श्रद्धा, आदर-भक्ति और नम्रतापूर्वक करना चाहिये। नही तो समाज-द्रोहका पाप हमारे सिरपर आ बैठेगा। समाज-द्रोह प्रत्यक्ष अीश्वरका ही द्रोह है। यदि अिसमे भेद भी हो तो अीश्वरकी दृष्टिसे प्रभु-द्रोहकी अपेक्षा ममाज-द्रोह ही अधिक खराब है। प्रभु-द्रोह पर क्षमा किया जा सकना है—मदा होता रहा है। परन्तु ममाजद्रोह—बन्धु-द्रोहका प्रायश्चित्त जमानो तक—शताब्दियो तक करना पडता है।

: १३ :

मजदूरोका धर्म

कहा जा सकता है कि अभीतक हिन्दुस्तानमे अधिकाश मजदूरोका वर्ग ही नही था। देशका बडा हिस्सा किसानो ही-का था। आज भी किसानोका प्रश्न ही मबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। जिम प्रकार यूरोपमे मजदूरोकी समस्या प्रधान है अुमी

प्रकार हमारे यहाँ किसानोकी समस्या है। यदि किसी दलपर सबसे अधिक सामाजिक दबाव है तो वह किसानो ही पर। गुजरातके किसानोकी स्थितिसे बङ्गाल, महाराष्ट्र या सयुक्त-प्रान्तके किसानोकी स्थिति ज्यादा खराब मालूम होती है। आज मिलोंके कारण जो मजदूर वर्ग अुत्पन्न हुआ है वह अधिकाशमे किसानोके वर्गमेसे ही अुत्पन्न हुआ है। जब किसानोको खेतीसे सफलता नही मिलती और अुनको देहातकी दरिद्र स्थिति असह्य हो जाती है तभी वह मजदूर बन जाता है। अर्थात् अेक तरहसे मजदूर-वर्ग खेतीकी निष्फलताकी निशानी है।

× × ×

मनुष्यकी मुख्य आवश्कताअे दो हैं—अन्न और वस्त्र। अिसमे यह पुराना रिवाज था कि किसान अन्न अुत्पन्न करे। और हरअेक मनुष्य अुसे पकाकर खाअे तथा हरअेक मनुष्य अपने-अपने घरमे सूत काते और जुलाहा अुने बुनदे। सूत कातना और अन्न रांधना, यह हरअेक कुटुम्बका नित्य कर्म था। खेती और वस्त्र-व्यवसाय ये देशके दो सबसे बडे अुद्योग थे। अुनके अलावा जो कुछ भी समाजका काम होता, अुसे अन्य कारीगर करते थे। मजदूरोका काम ही न पडता था। हरअेक कुटुम्ब वह सब काम अपने हाथसे कर लेता था जो अुससे बन सकता था। अुससे भी अधिक काम आ पडता तो अपने पडौसीकी सहायता ले लिया करता था। अब भी हमारे समाजमे विवाह आदि अवसरोपर दूसरेके यहाँ अेक ही जातिके पुरुष और स्त्रियाँ अिकट्ठी होती हैं और लड्डू या पापड़ बना लेती हैं। अेक ओर काम होता जाता है, दूसरी ओर विनोद-वार्तालाप भी होता रहता है, या गीत गाये जाते हैं। अिस तरह हमारी व्यवस्थामे परिश्रम भी अेक प्रकारका उत्सव बन जाता है।

× × ×

किसानको कुदरतके साथ हिलने-मिलनेका आनन्द मिलता ही है। हल या मोट चलाते समय किसान लोग आनन्दसे लल-

कारे लगा-लगाकर गीत गाते है । जुलाहा भी करघेकी तालपर अपने कण्ठकी ताने छेडता रहता है । कारीगरोको कलाकी अुत्तम वस्तु तैयार करनेमे निर्दोष आनन्द मिलता है । अितना ही नही, वरन् खेतमे काटनेके समय, या घरमे छत या दीवारके पलस्तरकी टिपाई करते हुए भी मजदूर लोग सगीतका आनन्द लेते है । आज मजदूर-वर्गको मिलमे जिस तरहका काम करना पडता है, वैसा आत्मघाती काम पहलेके मजदूरोको कभी न करना पडता था । जिसको खुद परिश्रममे आनन्द नही मिलता अुसे आनन्दप्राप्तिके बाहरी साधन खोजने पडते है और अैसी मजदूरी करने वालोका समाज यदि सस्कारी न हो तो वह स्वभावत चाहे जहाँसे और चाहे जैसा आनन्द प्राप्त करनेको ललचेगा ।

× × ×

आमतौरपर मजदूरी या शरीरिक परिश्रम पवित्र-से-पवित्र अुद्योग है । आरोग्य, दीर्घायुष्य और स्वतन्त्रता ये मजदूरीके आशीर्वाद है । मजदूरका जीवन दूसरे सभी अुद्योगोकी तुलनामे अधिक निष्पाप होता है । यदि मजदूर सन्तोषी हो तो वह आसानीसे अस्तेय और अपरिग्रह व्रतका पालन कर सकता है और अुसीमे अहिंसा भी वर्तमान है ।

मजदूरका पेशा जितना पवित्र है, अुतना ही सम्मानपूर्ण है । हाँ, हरअेक मजदूरको अिस बातका विचार जरूर करना चाहिये कि, वह किस कारण-वश और किन शर्तोपर मजदूरी कर रहा है । मजदूर जो काम करता है या जिस वस्तुको बना रहा है वह समाजके लिये आवश्यक और धर्मको स्वीकार होनी चाहिये । मजदूरको मजदूरी करते हुअे अपनी स्वतन्त्रताको खो न बैठना चाहिये ।

× ×

फीजी अथवा दक्षिण अफ्रीकाके मजदूरोको गिरमिटिया कहते थे । ये अपने सेठ, या अपने कामका चुनाव स्वय नही कर

सकते थे। वे शर्तोसे बधे हुअे होते थे। अिसीलिये उन्हे शर्त्तबन्द कहते थे। कुली अपमान-जनक नाम है। दैनिक मजदूरी लेकर कार्य करनेवालेको मजदूर कहते है। बम्बअीमे मजदूरोका नाम कामदार है। यह शब्द मजदूरोमे जागे हुअे आत्म-सम्मानका सूचक है। अमेरिकामे मजदूरोको 'हेल्पर्स' या मददगार (सहायक) कहते हैं। जो मनुष्य मजदूर रखता है, वह परावलबी है, पगु है और मजदूर अपने कामका पारिश्रमिक लेते हुअे भी समाज-सेवा करता है यह भाव अिस नाममें समाविष्ट है। मराठीमे मजदूरोके लिये पुराना शब्द 'गडी' है। गडी अर्थात् दोस्त, भिड या साथी। परिश्रममे सब समान है, परिश्रममे भ्रातृ-भाव वर्तमान है, और जो हमारा काम करता है वह हमारे ही वर्गका, हमारी बराबरीका है। यह सभी अर्थ-छाया 'गडी' शब्दमे एकदम आ जाती है।

दूसरे अुद्योगवाले मनुष्य जैसे समाजहितका विचार करते हैं और अपना कर्त्तव्य समझकर बहुतेरे सार्वजनिक कर्तव्योका पालन करते है, अुसी तरह मजदूरोको भी करना चाहिये। जिस मनुष्यको परिश्रम करनेका अभ्यास है, वह सच पूछा जाय तो समाजका राजा है। वह किसीपर निर्भर नही, बल्कि दूसरे लोग ही अुसपर निर्भर रहते है। हर एक मजदूर इस बातको जानता है कि पैसेवाले लोग अुसपर अवलम्बित रहते है। वह इस बातको जानता है, अिसीसे वह कई बार दूसरेको असुविधामें देखकर अधिक मजदूरी पानेका प्रयत्न करता है। यदि मजदूर लोग अपने हितको बराबर समझ ले तो अधिकाधिक मजदूरी प्राप्त करने हीमे अपनी शक्तिका व्यय न करके अपनी प्रतिष्ठा और अपनी स्वाधीनताको बढानेका प्रयत्न करेंगे। अेक मामूली क्लर्ककी अपेक्षा साधारण मजदूर अधिक कमाता है, अधिक उपयुक्त होता है और अुसकी तुलनामे अधिक स्वतन्त्र भी होता है। परन्तु फिर भी क्लर्क अपनी सामाजिक प्रतिष्ठाकी रक्षा कर सकता है, किन्तु मजदूरसे अभी यह नही

होता।

सच देखा जाय तो मजदूर मालिकका आश्रित नही, बल्कि मालिक ही मजदूरोका आश्रित है। मजदूरोकी पूजी अुनके शरीरमे है और वे अुसे अपने साथमे लेकर घूम सकते है। अुन्हे अिसका बोझ नही लगता। मालिक तो पूजीके साथ बँधा होता है और अिसीसे वह सगठित मजदूरोके सम्मुख आश्रितके समान ही होता है।

× × ×

मजदूरोका अुद्धार तो तभी होगा जब वे अिस बातको जानने लग जावेगे कि हम समाजकी किस तरह विशेष सेवा करते है—समाज-व्यवस्थामे हमारा स्थान कहाँ है, तथा समाजके प्रति हमारा कर्तव्य क्या है। पर अिस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये मजदूरोको शिक्षाकी आवश्यकता है। अिस बातको मजदूर शिक्षासे ही समझेगे कि देशकी और ससारकी स्थिति कैसी है और अुसमे मजदूर अपनी अिच्छाके अनुसार चाहे जो काम किस तरह कर सकते है। मजदूर-वर्ग समाजको आबाद भी कर सकता है और बरबाद भी।

: १४ :

श्रमजीवी बनाम बुद्धिजीवी

अुदर-निर्वाह अथवा समाज-सेवाके जो अनेक पेशे है अुनके सामान्यत दो भाग किये जा सकते है। अेक श्रमजीवी और दूसरा बुद्धिजीवी। किसान, जुलाहा, राज, बढअी, लुहार, नाअी, धोबी, कुम्हार, गुमाश्ता ये तो श्रमजीवी है। और क्लर्क, अध्यापक, सरकारी अधिकारी, न्यायाधीश, वकील ये सब बुद्धिजीवी है। पुरानी पूजीके सूदपर अपना जीवन-निर्वाह करनेवाला अेक तीसरा वर्ग भी होता है जो बिना किसी सेवाके समाजमे रहना चाहता है। पर न तो अुसे पेशाकार न समाज-सेवक कहा जा सकता है। पेशाकारोके तो केवल

दो ही वर्ग हैं—श्रमजीवी और बुद्धिजीवी। कितने ही देशोंमें अिन दो पेशोंमेंसे श्रमजीवी पेशेकी अपेक्षा बुद्धिजीवी पेशेको अधिक अूंचा माननेकी बुरी प्रथा हो गअी है।

हमारे देशमें तो श्रमजीवी पेशेको बिलकुल नीचा माननेकी प्रथा बहुत पुराने समयमें ही चली आअी है, जिसके कारण हमारे समाजको असीम हानि हुअी है।

आज भी मनुष्य शिक्षा अिसी अुद्देश्यसे प्राप्त करता है कि वह परिश्रम करनेकी सज़ासे बच जाय। अेक दिन मैं अपने स्नानगृहकी सफाअी कर रहा था। यह देख अेक धर्मोपदेशक मुझसे कहने लगे, "अजी अैसा काम करना था तो अितनी अङ्ग्रेज़ी क्यों पढ़ी? चार अिल्म पढ़े हैं, फिर भी अपने हाथसे काम कर रहे हैं। मुझे बड़ी शर्म मालूम होती है।" भारतवर्षकी अतीत भव्यताके दिनोंमें हम लोगोंमें अिस तरहके विचार न थे। भारतवर्षके विद्यार्थी अपने गुरुके मकानपर पशुके जैसा कठिन काम करते। पर कभी वे अूबते न थे और न शर्माते थे। अुपनिषद्के आचार्य अपने गुरुके घरपर गौओंको चराते थे। स्वयं श्रीकृष्ण गुरु-गृहपर रोज जंगलसे लकड़ीके बोझ लाते थे। विद्यापीठके वृद्ध पण्डित लोग अवकाश मिलनेपर पत्तलें बनाते थे। कोअी यह नहीं सोचता था कि शारीरिक परिश्रम करनेसे बुद्धिका कोअी उपयोग नहीं होता या प्रतिष्ठाको हानि पहुँचती है। शारीरिक परिश्रम अेक आवश्यक यज्ञ समझा जाता था। अिसलिये लोग सौ-सौ वर्ष तक जीते रहते थे। राजा और सरदार लोग भी कम-से-कम अपने शरीरको सर्व-कार्य-क्षम बनाये रखनेके लिये सभी प्रकारके परिश्रम करनेकी आदत बनाये रखते। धर्म-शास्त्रकारोंकी आज्ञा थी कि बंजर जमीनकी झाड़ी वगैरा कट जानेपर अुसपर पहला हल तो राजाको ही चलाना चाहिये। क्योंकि तब राज्यका आद्य किसान राजा ही समझा जाता था।

अिस प्रथाके कारण श्रमजीवी और बुद्धिजीवी वर्गोंके बीच

पूरा-पूरा सहयोग रहता था। बुद्धिमान् और धनवान लोग भी परिश्रमी कारीगर वर्गकी कदर करते और दोनो वर्गोके बीच सस्कारोका आदान-प्रदान होता रहता था। अिसी जमानेसे यह कहावत प्रचलित थी कि "किसानके शरीरपर लगी हुअी मिट्टीको झाड दो और अुसे राजवस्त्र पहना दो कि वह राजा बन जाता है।" राजोचित सस्कारोकी न्यूनता अुसमे कभी रहती ही नही थी। अिसलिये अुस जमानेमे प्रत्येक जातिमे शूर सरदार पैदा होते थे। देशकी रक्षा कैसे होगी, यह कायर-चिन्ता किसीके चित्तको स्पर्शतक नही कर सकती थी। और जाति-जातिके बीच शायद ही कभी वैमनस्य होता था।

पढे-लिखे और अपढोका भेद तो चला ही आया है। पर श्रमजीवी और बुद्धिजीवीके बीच भी बहुत कम आकर्षण और सम्बन्ध देखा जाता है। बुद्धिजीवी मनुष्योको शारीरिक परिश्रम नहीं करना पडता हो अथवा श्रमजीवियोको बुद्धिका प्रयोग नही करना पडता हो सो बात भी नही। फिर भी उपर्युक्त भेद तो स्पष्ट ही है। आधुनिक सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनैतिक जागृतिके जमानेमे अेक वर्गके प्रयास दूसरे वर्गतक पहुँच ही नही पाते। श्रमजीवी लोगोके सुख-दुःखोके विषयमे बुद्धिजीवी लापर्वाह तो होते ही है पर अुससे भी विशेष बात तो यह है कि वे अुससे अनभिज्ञ भी रहते है। बुद्धिजीवी लोग अपने आन्दोलनोका रहस्य श्रमजीवी लोगोको अुनकी अपनी भाषामे नही समझा सकते। अिसलिये आज भारतवर्षमे हम अपनी शक्तियोको अेकत्र नही कर सकते।

अिसका तो अेक ही अुपाय है। श्रमजीवी लोगोमे शिक्षाका प्रचार, और बुद्धिजीवी लोगोमे परिश्रमकी प्रतिष्ठा। श्रमजीवी लोगोमे शिक्षाका प्रचार करना चाहे कितना ही कठिन हो वे तो अुसके लिये तैयार ही है। यदि बुद्धिजीवी लोग श्रम करनेको तैयार हो जाय तो अुनके लिये भी कोअी काम असम्भव नही रहेगा। पर अुनको यह बात बडी अटपटी

मालूम होती है-। अिन दो वर्गोंके बीच जबतक सहयोग नही होगा; तबतक किसी कार्यके लिये, राष्ट्रकी शक्तिको अेकत्र करना दुष्कर है। शारीरिक परिश्रमके प्रति तिरस्कार होना बुद्धिजीवी लोगोके लिये अेक सार्वत्रिक रोग-सा हो गया है। यह अनुमान नही, अनुभवकी वाणी है। प्रजाकी शक्तिका विकास और सगठन करनेका यही अेकमात्र अुपाय है।

: १५ :

धर्म-संस्करण

कुछ लोग कहते हैं कि हमारा धर्म सबसे पुराना है अिसलिये वही सबसे अच्छा है। दूसरे कहते है कि हमारा धर्म सबमे आखिरी है अत वह सबसे अधिक ताज़ा है। कोअी कहते हैं कि अमुक पुस्तक आद्य धर्म-ग्रन्थ है, अिसलिये अुसमे सब-कुछ आ गया है। तो दूसरे कहते है कि फलाँ किताब परमात्माका ससारको दिया हुआ सबसे आखिरी धर्म-ग्रन्थ है, अिसलिये अुसका अुल्लघन नही कर सकते।

सनातन-धर्मी दूसरी ही तरहसे विचार करते है। सृष्टिका आदि और अन्त हो सकता है। धर्म-ग्रन्थोंका भी आदि और अन्त हो सकता है। पर धर्म तो अनादि-अनन्त है। अिसलिये वह सनातन कहा जाता है। सनातनके मानी क्या है? जो अिस सृष्टिके प्रारंभके पहले था और जो अुसके अन्तके बाद भी कायम रहेगा, वही सनातन है। अिस अर्थके अनुसार तो आत्मा और परमात्मा ही सनातन माने जा सकते हैं।

पर सनातनका और भी अेक अर्थ है। जो नित्यनूतन होता है वह स्वभावत ही सनातन है। जो जीर्ण होता है वह मर जाता है। जो बदलता नही वह सड़ जाता है। जिसकी प्रगति नही है अुसकी अधोगति बनी बनाअी है। बँधी हवा बदबू पैदा करती है। जो पानी बहता नहीं है वह स्वच्छ नहीं रहता। पहाड के पत्थर बदलते नही अिसलिये वे धीरे-धीरे

तुम शुरू नही कर सकते, न अपने स्थानसे कही भी अिधर-अुधर हट ही सकते हो। पुराने कलेवरको हमारा अभयदान है। तुम्हारे प्राणको राज्यमान्य कर दे तो हमारे प्राण कैसे टिके रहेगे ?" अिस तरह समभाव-शून्य तटस्थतामे सडी रूढियाँ भी कानूनकी कृत्रिम सहायतासे टिकी रहती है।

'हिन्दू-ला' पर अमल करते समय पद-पदपर यही स्थिति विघ्न अुपस्थित करती है। न्यायमूर्त्ति तेलगने अिस स्थितिके खिलाफ कअी वार अपनी अप्रसन्नता और घोर विरोध प्रकट किया था। प्रत्येक धर्म और समाजको अपनी व्यवस्थामे हेर-फेर करनेका अधिकार होना ही चाहिये। पर यह करनेके लिये आवश्यक स्वाधीनता, अकता और योजना-शक्तिका भी समाज-मे होना नितान्त आवश्यक है। बडे-बडे त्याग करके हमे अुसका विकास अपने अन्दर अवश्य ही करना चाहिये। यदि हिन्दू-धर्म-को प्राणवान बनाये रखना है, ससारमे अुसे अपना स्वाभाविक स्थान पुन प्राप्त करना है, यदि अुसे समाज-कल्याणकारी बना लेना है तो धैर्य-पूर्वक हमे अुसकी गदगीको धो डालना चाहिये। कितने ही अैसे खयालात और रूढियाँ हमारे समाजके अन्दर बद्धमूल हो गयी हैं कि जो धर्मके सनातन सिद्धान्तोके विपरीत है और जो समाजकी प्रगतिमे बुरी तरह बाधक हो रही है। अुन सबकी हमे अकदम होली कर देना चाहिये।

अस्पृश्यता अिन्ही बुराअियोमेसे अेक है। जातिगत अहकार और सकुचित प्रेम दूसरी बुराअी है, जहाँ रूढिके नाम पर दया-धर्मका खून हो रहा हो, जहाँ आत्माका अपमान हो रहा हो, जहाँ धर्म-प्रीतिके बदले लालच और भीतिको स्थान दिया जा रहा हो वहाँ धर्मको अिन बुराअियोके खिलाफ अपनी बुलन्द आवाज अुठानी चाहिये। सरकारी अधिकारियोको रिश्वत देकर अपना मतलब गाँठनेवाले लोग अेक परमात्मा-को—अीश्वरको छोडकर अुनके बदले अनेक भयानक शक्तियोको लालच दिखाना धर्म समझने लग गये। तानाशाह,

तामसी, सनकी और खुशामद-प्रिय अधीनतामें रह कर नामर्द बने हुअे लोग देव-देवियोंका स्वभाव भी अुन्हींके जैसा समझकर अुनके प्रति भी भय-वृत्तिका विकास करने लगे, और अिस तरह अपने धर्ममें अधर्मका साम्राज्य स्थापित किया। सत्यनारायणसे लगाकर कालभैरव तक सभी देवताओंको हमने डरावने गुंडे (Bullies) बना रक्खा है। आकाशस्थ तारे, ग्रह, जंगलके वृक्ष और वनस्पतियाँ, हमारे भाअी-बन्धु, पशु-पक्षी, अूषा और सन्ध्या, ऋतु और संवत्सर प्रत्येक स्थानपर, जहाँ कि हमारे ऋषि अुस परम मंगलकी प्रेममय विभूतियोंका साक्षात्कार करते थे, अुनके साथ आत्मीयता और अेकताका अनुभव करते थे, वहाँ आज हमें भय और भयके सिवा और कुछ दीखता ही नहीं। धर्मका शुद्ध और अुदात्त तत्त्व जानने वाले लोग हमारे विधि-विधानोंके अन्दर रहनेवाले काव्यको देख सकते हैं। परन्तु अज्ञ-जन-समुदाय काव्यको सनातन सिद्धान्त अथवा वास्तविक स्थिति मानकर विचित्र अनुमान करते हैं और अुन्हींको पकड़ बैठकर धर्मका कार्य विफल कर डालते हैं।

आज हिन्दू-धर्मका अुत्कर्ष चाहनेवाले प्रत्येक मनुष्यका यही प्रथम कर्तव्य है कि वह अिस बातकी कोशिश करे कि अुसके समाजमें धर्मका शुद्ध स्वरूप प्रकट हो। जिसमें सत्यकी निर्भयता नहीं, त्यागकी अक्लमन्दी नहीं, अुदारताकी सुगन्ध नहीं, वहाँ धर्म है ही नहीं—यह हमें निश्चित रूपसे समझ लेना और लोगोंको समझाना भी चाहिये। हिन्दू धर्मके संस्करणका समय आ गया है क्योंकि अुसपर जमी हुई गर्द अुसका दम घोट देनेको है।

जीवित अितिहास

१ :

जीवित अितिहास

हिन्दुस्तानका अितिहास हिन्दुस्तानियो द्वारा नही लिखा गया है। रामायण और महाभारत आजके अर्थमे अितिहास नही कहे जा सकते। आधुनिक दृष्टिसे तो वे अितिहास हैं भी नही। रामायण, महाभारत और पुराणोमे भी कुछ अितिहास तो है, लेकिन वह सब धर्मका निश्चय करनेके लिये दृष्टान्त-रूप है। महावश और दीपवश अितिहास माने जा सकते है, पर वे लकाके है, और अुनमे अितिहासकी चर्चा बहुत कम हुअी है। काश्मीरकी राजतरगिणीके विषयमे भी यही कहना पडता है। तो फिर हमारा अितिहास क्यो नही है ? जीवनके किसी भी अगको लीजिये, हम लोगोने अुसमे असाधारण प्रवीणता प्राप्त की है, फिर भी हमारे यहां अितिहास क्यो नही ?

अितिहासका अर्थ है, मनुष्य-जातिके सम्मुख अुपस्थित हुअे प्रश्नोका अुल्लेखन। अिनमेसे कुछ प्रश्नोका निराकरण हुआ है, और कुछ अभीतक अनिर्णीत है। जिन प्रश्नोका निश्चय हो सका है, वे अब प्रश्न नही रहे, अुनका निराकरण हो चुका, अब वे समाजमे—सामाजिक जीवनमे—सस्कार-रूपसे प्रविष्ट हो गये है। जिस प्रकार पचे हुअे अन्नका रक्त बन जाता है, अुसी प्रकार अिन प्रश्नोने राष्ट्रीय मान्यता या सामाजिक सस्कारका रूप प्राप्त कर लिया है। खाना हजम

हो जानेपर मनुष्य अिस बातका विचार नही करता कि कल अुसने क्या खाया था। ठीक अिसी तरह जिन प्रश्नोका अुत्तर मिल चुका है, अुनके विषयमे भी वह अुदासीन रहता है।

अब रहा सवाल अनिर्णीत प्रश्नोका। हम लोग परमार्थी हैं। हम अनिर्णीत प्रश्नोको कागज़पर लिखकर छोड देना नही चाहते। अनिर्णीत प्रश्नोमे मतभेद होते हैं। जितने मतभेद होते है, अुतने ही सम्प्रदाय हम खडे कर देते है। वेदोके अुच्चारणमें मतभेद हुआ, तो हमने भिन्न-भिन्न शाखाअे खडी कर दी ! ज्योतिषमे मतभेद हुआ, तो वहाँ भी हमने स्मार्त्त और भागवत अेकादशियाँ अलग-अलग मानी। दर्शनशास्त्रमे तत्त्वभेद मालूम हुआ, तो हमने द्वैतवादी तथा अद्वैतवादी सप्रदायोका निर्माण किया। आहार या व्यवसायमे भेद हुआ, तो हमने भिन्न-भिन्न जातियाँ बना ली। जहाँ सामाजिक रीति-रिवाजोमे मतभेद हुआ, वहाँ हमने झट अुपजातियाँ खडी कर दी। अगर गलतीसे कोअी आदमी किसी रिवाजको तोड दे या बडे-से-बडा पाप करे, तो अुसके लिये भी प्रायश्चित्त है, सिर्फ अुसके लिये नअी जाति खडी नही की जाती। महान् अैतिहासिक और राष्ट्रीय महत्वकी घटनाओंके अितिहासको हम लोग त्योहारो द्वारा जाग्रत रखते है अिसी तरह हरअेक सामाजिक आन्दोलनके अितिहासको, अुस आन्दोलनके केन्द्रको, तीर्थका रूप देकर हम लोगोने जीवित रखा है। अिस तरह अितिहास लिखनेकी अपेक्षा अितिहासको जीवित रखना, अर्थात् जीवनमे अुसे चरितार्थ कर दिखाना, हमारे समाजकी खूबी है। चिथडोके बने कागज़पर अितिहास लिखकर अुसे सुरक्षित रखना अच्छा है, या जीवनमे ही अितिहासका सग्रह करके रखना अच्छा है? क्या यह कहना मुश्किल है कि अिन दोनोमेसे कौनसा मार्ग अधिक सुघरा हुआ है? जबतक हमारी परम्परा टूटी नही थी, तबतक हमारा अितिहास हमारे जीवनमे जीवित था। आज भी यदि लोगोके रीति-रिवाजो, अुनकी धार-

णाओ, जातीय सगठनो और त्योहारोकी खोज की जाय, तो बहुत-सा अितिहास मिल सकता है, हाँ, यह ठीक है कि वह अधिकाशमे राजकीय या राजनीतिक नही बल्कि सामाजिक और राष्ट्रीय होगा। क्या अितिहासके सशोधक अिस दिशामें परिश्रम न करेगे ?

: २ :

शारदाका अुद्बोधन

हम नही जानते कि किस नवमीको सुरोने शारदाका अुद्बोधन किया था। लेकिन वह अत्यन्त शुभ, सुभग और कल्याणकारी मुहूर्त्त होना चाहिये। समृद्धिदायी वर्षाके बाद जो शान्ति, जो निर्मलता, जो प्रसन्नता दृष्टिगोचर होती है, अुसीमे देवताओको शारदाका दर्शन हुआ। धरतीने अभी हरा रग नही छोडा है, परिपक्व धान्य सुवर्णवर्णकी शोभा फैला रहे है—अैसे समय पर देवोने शारदाका ध्यान किया। सज्जनोके हृदयोके समान स्वच्छ पानीमे विहार करनेवाले प्रसन्न कमल और आकाशमे अनन्त काव्यके फव्वारे छेडनेवाला रसस्वामी चन्द्र, ये दोनो जब अेक-दूसरेका ध्यान कर रहे थे, अुसी समय देवोने शारदाका आह्वान किया। शारदा आयी और अुससे पृथ्वीके वदन-कमल पर सुहास्य फैला। शारदा आअी और वनश्रीका गौरव खिल उठा। शारदा आअी और घर-घर समृद्धि बढ गअी। शारदा आअी और वीणाका झकार शुरू हुआ, सगीत और नृत्य ठौर-ठौर आरम्भ हुअे।

शारदाका स्वरूप कैसा है ? बाला ? मुग्धा ? प्रौढा ? या पुरध्री ? शारदा मजुलहासिनी बाला नही है, मनमोहिनी मुग्धा नही है, विलासचतुरा प्रौढा नही है। वह तो नित्ययौवना किन्तु स्तन्यदायिनी माता है। वह हमारे साथ हँसती है, खेलती है, मगर वह हमारी सखी नही, माता है। हम अुसके साथ बालोचित क्रीडा कर सकते है, लेकिन हम यह न भूले कि हम माताके

सम्मुख खडे है। माता अर्थात् पवित्रता, वत्सलता, कारुण्य और विश्रब्धता। माता अर्थात् अमृत-निधान। 'न मातु परदैवतम्।' यह वचन किसी नुपदेशप्रिय स्मृतिकारका गढा हुआ नही है। यह तो किसी मातृ पुत्र धन्य बालककी अमृतवाणी है।

चराचर सृष्टिकी नेकताका अनुभव करनेवाले हम आर्य सन्तान अेक ही शब्दमे अनेक अर्थोको देखते हैं। शारदा यानी सरोवरमे विराजमान कमलोकी शोभा। शारदा यानी शरत् पूनो और दीवालीकी क्रान्ति। शारदा यानी यौवनसहज व्रीडा। शारदा यानी कृषिलक्ष्मी। शारदा यानी साहित्य-सरिता। शारदा यानी ब्रह्मविद्या, चिच्छक्ति। शारदा यानी विश्वसमाधि। अुसी ही यह हमारी माता है, हम अुसके बालक है। कितनी धन्यता! कितनी स्पृहणीय पदवी! कितना अधिकार! और साथ ही कितनी बडी दीक्षा!

शारदाके स्तन्यका स्पर्श जिन होठोको हुआ हो, वे होठ अपवित्र वाणीका अुच्चारण नही करेंगे, निर्बलताके वचन मुँहसे नही निकालेंगे द्वेषका सूचन तक न करेंगे, पापको नही सँवारेंगे, पौरुषकी हत्या नही करेंगे, और मुग्धजनोको धोखा न देंगे।

शारदाके मन्दिरमे सर्वोच्च कला हो, कलाके नामपर विचरनेवाली विलासिता नही। शारदाके भवनमे प्रेमका वायुमडल हो, केवल सौन्दर्यका मोहन नही। शारदाके अुपवनमे प्राणोका स्फुरण हो, निराशाका नि श्वास नही। शारदाके लताकुञ्जोमे विश्वप्रेमका सगीत हो, परस्पर अनुनयका मूर्खता-पूर्ण कलकूजन नही। शारदाके विहारमे स्वतत्रताकी धीरोदात्त गति हो, उद्देश्यहीन और स्खलनशील पद-क्रम नही। शारदाके पीठमे ब्रह्मरसका प्रवाह हो, विषय-रसका अुन्माद नही।

माता शारदा! आशीर्वाद दे कि हमे तेरा स्मरण अखंड बना रहे! जब हम अविकारी बने, तो तू हमे अपने दर्शन दे! अगर हमारा ध्यान अविचल रहे, हमारी भक्ति अेकाग्र और अुत्कट बने, तो तू हमे अपनी दीक्षा दे। और जब हम तेरी

अखड सेवाके लायक बन जायँ तब अितनी भिक्षा दे कि केवल तेरी सेवाकी ही धुन हमेशा हमपर सवार रहे ! तुझे कोटिश प्रणाम है !

या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनम ।।

अक्तूबर, १९२४

: ३ :

जन्माष्टमीका अुत्सव

देशकी राजनीतिक स्थितिके बारेमे अेक वृद्ध साधुके साथ अेक बार मेरी बातचीत हुअी थी । बातचीतके सिलसिलेमे मैंने राजनिष्ठाके बारेमे कुछ कहा । साधु महाराज अेकदम बोल अुठे "अजी, हिन्दुस्तानमे तो दो ही राजा हुअे है । मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र और जगद्-गुरु श्रीकृष्ण । आज भी अिन दोनोका ही हम लोगोपर राज्य चल रहा है । राजनिष्ठा तो अुन्हीके प्रति हो सकती है । जमीनपर या पैसेपर राज्य करने-वाले चाहे जो हो, लेकिन हिन्दुओके हृदयो पर राज्य चलानेवाले तो ये दो ही है ।" मुझे यह बात बिलकुल सही मालूम हुअी । भजन पूरा करके 'राजा रामचन्द्रकी जय' या 'कृष्णचन्द्रकी जय' पुकारकर लोग जय-जयकार करते है, अुस समय जिस तरहकी भक्तिका अुद्रेक दीख पडता है, अुस तरह-की भक्ति दूसरे किसी भी मानव व्यक्तिके प्रति पैदा नही होती ।

श्रीरामचन्द्रजीका जीवन जितना अुदात्त है, अुतना ही सुगम भी है । रामचन्द्र, आर्य पुरुषोके आदर्श पुरुष—पुरुषोत्तम है । सामाजके नीति-नियमोका, रस्म-रिवाजोका, वह परिपूर्ण पालन करते है । अितना ही नही, बल्कि रामचन्द्रजी लोकमतको अितना मान देते है कि जो किसी भी प्रजासत्ताक राज्यके राष्ट्राध्यक्षके लिये आदर्शरूप हो सकता है । रामचन्द्रजीमे यह

निश्चय दृढ है कि 'मेरा अशेष जीवन समाजके लिये है।'

श्रीकृष्ण भी पुरुषोत्तम हैं, लेकिन अलग युगके। श्रीकृष्णमें यह वृत्ति दिखाअी देती है कि जब समाज-सगठन स्वय ही आत्मिक अुन्नतिमे बाधक होता है, तब अुसके बधन तोड दिये जाय और नवीन नियम बनाये जाय। फिर भी श्रीकृष्ण अराजक वृत्तिके नही थे। लोकसग्रहका महत्त्व वे अच्छी तरह जानते थे। श्रीकृष्णने धर्मको अेक नया ही रूप दिया। और अिसीलिये श्रीकृष्णके जीवनका हरअेक प्रसग रहस्यमय बना है। कोअी व्याकरणकार जिस तरह अेक बडा सर्वव्यापी नियम बनानेके बाद अुसके अपवादोको अेक सूत्रमे ग्रथित करता है, अुसी तरह श्रीकृष्णने मानो अपने जीवनमे मानवधर्मके सभी अपवाद सूत्रबद्ध किये है। गोपियोसे अत्यन्त शुद्ध पवित्र किन्तु मर्यादा-रहित प्रेम, रिश्तेमे मामा होते हुअे भी दुराचारी राजाका वध, भक्तिकी प्रतिज्ञाको सच्चा साबित करनेके लिये अपनी प्रतिज्ञाका भग करके भी युद्धमे शस्त्र-ग्रहण, आदि सब प्रसगोमे 'तत्त्वकी रक्षाके लिये नियमभग'के दृष्टात हैं। श्रीकृष्णने आर्यजनताको अधिक अन्तर्मुख और अधिक आत्मपरायण बनाया और अपने जीवन और अुपदेशसे यह सिद्ध करके दिखाया कि भोग और त्याग, गृहस्थाश्रम और सन्यास, प्रवृत्ति और निवृत्ति ज्ञान और कर्म, अिहलोक और परलोक आदि सब द्वन्द्वोका विरोध केवल आभास रूप है। सबोमे अेक ही तत्त्व अनुस्यूत है। आर्य-जीवनपर सबसे अधिक प्रभाव तो श्रीकृष्णका ही है। फिर भी यह निश्चित करना मुश्किल है कि अिस प्रभावका स्वरूप क्या है। जिस प्रकार सरल भाषामे लिखी हुई भगवद्गीताके अनेक अर्थ किये गये है, अुसी प्रकार कृष्ण-जीवनके रहस्यका भी विविध प्रकारसे वर्णन किया गया है। जिस तरह वाल्मीकि-रामायणके श्रीरामचन्द्रजी और तुलसीरामायणके श्रीरामचन्द्रके बीच महदन्तर है, अुसी तरह महाभारतके श्रीकृष्ण, भागवतके श्रीकृष्ण, गीत-गोविन्दके

श्रीकृष्ण, चैतन्य महाप्रभुके श्रीकृष्ण और तुकाराम महाराजके श्रीकृष्ण अेक होते हुये भी भिन्न है। वर्त्तमानकालमे भी नवीनचन्द्र सेनके श्रीकृष्ण, बाबू बंकिमचन्द्रके श्रीकृष्णसे अलग हैं, गांधीजीके श्रीकृष्ण, तिलकजीके श्रीकृष्णसे भिन्न है, और अरविन्द बाबूके श्रीकृष्ण तो सबसे न्यारे है। सुलभ और दुर्लभ, अेक और अनेक, रसिक और विरागी, विप्लवी और लोकसंग्राहक, प्रेमल और निष्ठुर, मायावी और सरल—अैसे अनेक प्रकारके श्रीकृष्णकी जयन्ती किस तरह मनाअी जाय, यह निश्चित करना महा कठिन काम है।

श्रीकृष्णका चरित्र अुतना ही व्यापक है जितना कि कोअी संपूर्ण जीवन हुआ करता है। दुनियाकी प्रत्येक स्थितिका श्रीकृष्णने अनुभव किया है। हरअेक स्थितिके लिये अुन्होने आदर्श अुपस्थित किया है। श्रीकृष्णकी बाल्यावस्था अतिशय रम्य है। गायो और बछडो पर अुनका प्रेम, वनमालाओके प्रति अुनकी रुचि, मुरली का मोह, बालमित्रोसे अुनका स्नेह, मल्लविद्याकी ओर अुनका अनुराग, सभी कुछ अद्‌भुत और अनुकरणीय है। छोटे लडके जरूर अिन बातोका अनुकरण करें। सुदामाके स्नेहको याद करके जन्माष्टमीके दिन हम अपने दूर रहनेवाले मित्रोको चार दिन तक साथ रहनेके लिये, श्रीकृष्णका गुणगान करके खेलनेके लिये बुला लें, तो बहुत ही अुचित होगा।

श्रीकृष्णके मनमे छोटा या बडा, अमीर या गरीब, ज्ञानी या अज्ञानी, सुरूप या कुरूप, किसी भी प्रकारका भेद न था। गौओको चराने जाते समय श्रीकृष्ण अपने सभी साथियोसे कहते कि हरअेक बालक घरसे अपना-अपना कलेवा ले आवे। फिर वे सबका कलेवा अेक साथ मिलाकर प्रेमसे सबके साथ वन-भोजन करते थे। आज भी हम अेक स्कूलके विद्यार्थी, अेक दफ्तरके कर्मचारी, अेक मिलके मजदूर, अेक क्लबमे खेलनेवाले सदस्य अिकट्ठा होकर, अपने-अपने घरसे खानेका सामान

लाकर, शहर या गाँवके बाहर किसी कुअेपर या नदीके किनारे, पेडके नीचे गपशप करते, गाते, खेलते या भजन करते हुअे दिन बितायें तो अुसमें कैसी नअी-नअी खूबियाँ प्रकट होंगी ! लेकिन अिस वन-भोजनमें लड्डू-पकौडी या चिवडा-चबैना नहीं चलेगा। कृष्णाष्टमीके दिन मुख्य आहार तो गोरसका ही होना चाहिये। दूध, दही, मक्खन और कन्द-मूल-फलका आहार ही अिस दिनके लिये अुचित है। धर्म-संशोधक जगद्गुरुका जिस दिन जन्म हुआ, अुस दिन तो लडके अिस प्रकारका सात्त्विक आहार ही करें। बडी अुम्रके लोग अुपवास रक्खें।

अुपवासकी पुरानी प्रथा नहीं छोडनी चाहिये। अुसमें काफी गहरा रहस्य है। अुपवाससे मन अन्तर्मुख हो जाता है। दृष्टि निर्मल होती है। शरीर हलका रहता है। बहुतोंका यह अनुभव है कि समय-समय पर अुपवास करनेकी आदत हो, तो अुपवासके दिन मन अधिक प्रसन्न रहता है। अुपवाससे वासना शुद्ध होती है, संकल्प-शक्ति बढती है। शरीरमें दोष न हो, तो अुपवास करनेसे चित्त अेकाग्र होता है, और धर्मके गहरे-से-गहरे तत्त्व स्पष्ट होते जाते हैं। अगर बुद्धियोग हो, तो अुपवास करके धर्मतत्त्वका चिंतन किया जाय, और जिसमें अितनी शक्ति न हो, वह श्रद्धावान लोगोंके साथ धर्मचर्चा करे। यह भी न हो सके, तो गीताका पारायण (पाठ) किया जाय, नामसंकीर्तन, भजन आदि किया जाय, सात्त्विक संगीत-के साथ भजन गाये जायँ। अुपवासके दिन रोजमर्राके व्याव-हारिक काम जहाँतक हो सके, कम किये जाय, लेकिन खाली समय आलस, निद्रा या व्यसनमें न बिताया जाय। बहुत बार हमें सुन्दर-सुन्दर धार्मिक वचन, भजन या पद मिल जाते हैं, लेकिन अुन्हें लिख रखनेके लिये समय नहीं मिलता। अिस दिन अुनको लिखनेमें समय बिताया जाय, तो अच्छा होगा।

जिनमें सार्वजनिक कार्य करनेकी शक्ति हो, अुनके लिये अिससे अच्छा और क्या हो सकता है कि वे गोपालके जन्मो-

त्सवके दिनसे गोरक्षाका आन्दोलन शुरू करे। श्रीकृष्णके साथियोको जितना दूध और घी मिलता था, अुतना दूध और घी जबतक हमारे बच्चोको नही मिलता, तबतक यह नही कहा जा सकता कि हमने श्रीकृष्ण-जन्मोत्सव ठीक-ठीक मनाया है। श्रीकृष्ण अप्रितम मल्ल थे, गृहस्थाश्रममे रहकर ब्रह्मचर्यका पालन करते थे। वे दीर्घायु थे। अिसलिये हरअेक अखाडेमे जन्मोत्सव मनाया जाना चाहिये और श्रीकृष्णके जीवनके अिस भूले हुअे अंगकी याद फिरसे ताजा करनी चाहिये।

जो पाडित्यमे ही जीवन व्यतीत करना चाहते है, उनके लिये सबसे अच्छा काम यह हो सकता है कि जिस तरह गीता-मे श्रीकृष्णने अर्जुनको उपदेश दिया है, अुसी तरह अुनके भिन्न-भिन्न अवसरपर कहे हुअे तमाम वचन महाभारत तथा भाग-वत् विष्णुपुराण ओर हरिवशमेसे जितने मिल सके, उतने सब सगहीत करे। और उसके बाद अिन वचनोका सदर्भ देखकर, श्रीकृष्णचरित्रके अनुसार गीताजीका अर्थ लगाये। और अिस महान् जगद्गुरूका तत्त्वज्ञान (फिलॉसफी ऑव् लाइफ) क्या था, अुसकी राजनीति कैसी थी, आदि बातें निश्चित करके लोगोके सामने रखे।

× × ×

यह बहुत नाजुक सवाल है कि जन्माष्टमीका दिन स्त्रियां किस तरह मनाये। भक्तिके अतिरिक्त स्वरूपका नारदने अपने भक्तिसूत्रमे वर्णन किया है। अुमपरसे मनोवृत्तियोको गोपी समझकर परब्रह्म पुरुषपर वे कितनी मुग्ध थीं, अिसका वर्णन कअी कवियोने अितना ज्यादा किया है कि श्रीकृष्णके जीवनके परिपूर्ण रहस्यको जनता लगभग भूल ही गअी है। श्रीकृष्णको गोपीजनवल्लभ कहा गया है। श्रीकृष्ण और गोपियोके बीचका प्रेम कितना विशुद्ध और आध्यात्मिक बन गया था, अिसकी कल्पना जिन हृदयोको नही आ सकी, अुन्होने या तो श्रीकृष्ण-को नीचे घसीट लिया है, अथवा अुस प्रेमका वर्णन करनेवाले

कवियोने अुनको हलकी वृत्तिका और असत्यवादी ठहराया है। मेरा कहना यह नही है कि कृष्ण और गोपियोके बीचके प्रेमका वर्णन करनेमे कवियोने भूल नही की है। मैं तो यही मानता हूँ कि समाजकी स्थितिको देखकर कवियोके लिये अधिक सावधानीके साथ अुस प्रेमका वर्णन करना अुचित था। मुसलमानी धर्मके सूफी सम्प्रदायके मस्त कवियो और फकीरोको सजा देते समय कट्टर मुसलमान बादशाह कहते थे कि ये साधु जो कहते हैं, वह गलत नही है, लेकिन अनधिकारी समाजके सामने अिस तरहकी रहस्यमय बाते रखकर ये समाजको नुकसान पहुँचाते हैं और अिसलिये ये सजाके पात्र है। चूकि गोपियोके प्रेमको हम नही समझ सकते, अिसलिये अुस प्रेमको अैसा स्वरूप देनेकी कोअी आवश्यकता नही, जो हमारी वर्तमान नीति-कल्पनाओको पसन्द आये। मीराबाअीने स्पष्ट ही दिखाया है कि गोपियोका प्रेम कैसा था। जब-जब लोगोके मनसे धर्मके अूपरकी श्रद्धा अुठ जाती है तब-तब अुस श्रद्धाको फिरसे स्थिर करनेके लिये मुक्त पुरुष अिस ससारमे अवतार लेते हैं, और स्वय अपने अनुभवमे और जीवनसे लोगोमे धर्मके प्रति श्रद्धा पैदा करते हैं। अुसी तरह गोपियोकी शुद्ध भक्तिके बारेमे जब लोगोमें अश्रद्धा अुत्पन्न हुअी तब गोपियोमेसे अेकने—शायद राधाजी ही होगी—मीराका अवतार लेकर प्रेमधर्मकी फिरसे सस्थापना की। यदि हम अीश्वर और भक्तके बीचका यह अनिर्वचनीय प्रेम-सम्बन्ध स्पष्ट कर सकें, तब तो गोपियोंके प्रेम और विरहके गीत गानेमे मुझे कोअी आपत्ति नही दिखाअी देती। मीराके आदर्शका त्याग हमसे हो ही नहीं सकता। जमाना बुरा आ गया है, अिसलिये क्या हम मीराबाअीको भूल जायं? यह बात नही है कि श्रीकृष्णके साथ केवल गोपियोका सम्बन्ध था। यशोदाजी बालकृष्णको पूजती, कुन्ती पार्थसारथीको पूजती, सुभद्रा और द्रौपदी कृष्णको बन्धुरूपमें पूजती। श्रीकृष्णका यह सम्पूर्ण जीवन हमें अपनी स्त्रियोके

सामने रखना चाहिये। श्रीकृष्ण कितने सयमी थे, कितने नीतिज्ञ थे, कितने धर्मनिष्ठ थे, आदि सभी बाते स्त्रियोके सामने स्पष्ट कर देनी चाहिये। और तभी गोपी-प्रेमका आदर्श अुनके सामने रखना चाहिये। प्रेम और मोहके बीच जो स्वर्ग और नरकके जितना भेद है, अुसे स्पष्ट करके दिखाना चाहिये। पुराणोमे—भागवतमे—अेक बहुत सुन्दर प्रसगका वर्णन आया है कि रासलीलामे गोपियोके मनमे मलिन कल्पना आते ही श्रीकृष्ण—असख्य रूपधारी श्रीकृष्ण—अचानक अदृश्य हो गये और जब गोपियोका मन पश्चात्तापसे पवित्र हुआ, तभी वे फिरसे प्रकट हुअे। अिसका रहस्य हरअेकको समझ लेना चाहिये। अिस रहस्यको किसी भी व्यक्तिसे छिपा रखनेमे कुशल नही। अधूरे ज्ञानसे अुत्पन्न होनेवाले दोषोको हटानेका अुपाय सम्पूर्ण ज्ञान है, अज्ञान नही। प्रेमको अुसके विशुद्ध रास्तेसे हमे ले जाना चाहिये। प्रेम दबानेसे नही दबता, बल्कि दबानेके प्रयत्नमे वह विकृत हो जाता है।

जन्माष्टमीके दिन हम सुदामा-चरित्र गाये, श्रीकृष्ण द्वारा गोपियोको दिया हुआ अुपदेश गाये, अुद्धवके हाथ श्रीकृष्णजी-का गोपियोको भेजा हुआ सन्देशा गाये, गीताका रहस्य समझ ले। रास खेले और अुपवास रखकर शुद्ध वृत्तिमे अुसके अन्दरका रहस्य समझ ले।

जन्माष्टमीके दिन अगर हम गायकी पूजा करे, तो वह ठीक ही है। गायकी पूजा करनेमे हम पशुको परमेश्वर नही मानते, किन्तु अुस पूजा द्वारा गायके प्रति प्रेम और कृतज्ञता व्यक्त करते है। नदीकी पूजा, तुलसीकी पूजा और गायकी पूजा अगर अच्छी तरह सोच-समझकर करे, तो अुससे अन्त करणको अच्छी-से-अच्छी शिक्षा मिलेगी, रस वृत्तिका विकास होगा और हृदय पवित्र तथा सस्कारी बनेगा। प्रत्येक पूजामे अेक-सा ही भाव नही रहता। पूजा कृतज्ञतामे हो सकती है, वफादारी-के कारण हो सकती है, प्रेमके कारण हो सकती है, आदरबुद्धि-

से हो सकती है, भक्तिसे हो सकती है, आत्मनिवेदन-वृत्तिसे हो सकती है या स्वरूपानुसंधानके कारण भी हो सकती है। अिस तरह देखा जाय तो गायकी पूजा करनेमें अेकेश्वरवादी या अनीश्वरवादीको भी कोअी आपत्ति नहीं होनी चाहिये। निरीश्वरवादी ऑगस्टस-काण्ट क्या मानवजातिकी स्त्री-प्रतिमा बनाकर अुसकी पूजा नहीं करता था ?

श्रावण महीनेमें बहुत-सी गायें ब्याती हैं। घरकी छोटी-छोटी लड़कियाँ अगर कृतज्ञताके साथ गायोंकी और अिधर-अुधर उछलने-कूदने व चरनेवाले छोटे-छोटे बछड़ोंकी हल्दी और रोलीसे पूजा करें, तो कितनी प्रेम-वृत्ति जाग्रत होगी !

कन्याशालाओंमें अनेक तरहसे कृष्ण-जयन्ती मनाअी जा सकेगी। घरके अन्दरकी जमीन अच्छी तरह लीपकर सफेद पत्थरकी बुकनीसे और अबीर आदिसे चौक पूरनेकी प्रतियोगिता रक्खी जा सकेगी। लडकियाँ गीत गायें, रास खेलें, कृष्ण-जीवनके भिन्न-भिन्न प्रसंगोंका पद्य और गद्यमें वर्णन करें, घरसे कलेवा लाकर सब मिलाकर खायें। अुस दिन स्कूलकी लडकियोंको अपनी सहेलियोंको भी साथ ले आनेकी अिजाजत हो, तो अधिक आनन्द आयेगा और अधिक लडकियाँ शिक्षाकी ओर आकर्षित होंगी। धार्मिक शिक्षाको यदि प्रभावकारी बनाना है, तो हर त्योहारके अवसरपर स्कूलको मन्दिरका स्वरूप दे देना चाहिये। यदि हम मूर्ति-पूजासे न डर गये हों, तो जन्माष्टमीके दिन स्कूलमें हिंडोला बँधवाकर लोरियाँ गायें। अिसमें लडकियोंकी माताअें भी अवश्य भाग लेंगी।

आजकी कन्याशालाअें अभीतक समाजका अेक अंग नहीं बनी हैं, अुन्होंने समाजमें अभी तक जड नहीं पकडी है, और अिसीलिये अिन स्कूलोंको चलानेवाले अुत्साही देशसेवकोंका आधेसे ज्यादा परिश्रम बेकार जाता है। जन्माष्टमी जैसे त्योहार मनानेमें यदि समाजकी सभी स्त्रियाँ भाग लेने लग जायँ, तो देखते-देखते शिक्षा सफल हो जायगी, शिक्षाका लाभ केवल स्कूल-

कर्तव्य तो स्वदेश-रक्षा ही है। परन्तु बहुत बार, शत्रुके स्वदेश-में घुसकर देशको बरबाद करनेसे पहले ही अुसके दुष्ट हेतुको पहचानकर स्वयं—सीमोल्लघन करना—अपनी सीमा यानी सरहदको लांघना और खुद शत्रुके मुल्कमे लडाअी ले जाना, होशियारीकी और वीरोचित बात मानी जाती है।

थोडा-सा सोचनेपर मालूम होगा कि अिस सीमोल्लघनके पीछे साम्राज्यवृत्ति है। अपनी सरहद लांघकर दूसरे देशपर अधिकार जमाना और वहांसे धन-धान्य लूट लाना, अिसमे आत्म-रक्षाकी अपेक्षा महत्त्वाकांक्षाका ही अश अधिक है। अिस तरह लूटकर लाया हुआ सोना अगर पराक्रमी पुरुष अपने ही पास रखे तो वर्तमान युगके क्षत्रप्रकोप (Militarism) के साथ विट्प्रकोप (Industrialism) के मिल जानेकी भयानक स्थिति पैदा होगी।[1] जहां प्रभुत्व और धनिकत्व अेकत्र

[1] 'क्षत्रप्रकोप' तथा 'विट्प्रकोप' अिन दो नये नामोंकी सार्थकता मुझे सिद्ध करनी चाहिये। चातुर्वर्ण्यका सन्तुलन या सामजस्य तो समाज-शरीरकी स्वाभाविक स्थिति है। समाजके लिये अिन चारो वर्णोंकी आवश्यकताको स्वीकार कर लिया गया है। जिस तरह, जब व्यक्तिके शरीरमे वात, पित्त, और कफ ये तीन धातु अुचित अनुपातमें रहते है तभी शरीर नीरोगी रहता है, अुसी तरह समाज-शरीरमें चातुर्वर्ण्य अुचित अनुपातमें होना चाहिये। शरीरमें पित्तकी मात्रा बढ जाती है, तो अुसे पित्तप्रकोप कहते है। पित्तप्रकोपसे सारा शरीर खराब हो जाता है। यही हालत वातप्रकोप और कफप्रकोपके विषयमें है। समाज शरीरमें क्षात्र-वर्गका अतिरेक या प्राबल्य हो जाय, तो अुस स्थितिको क्षत्रप्रकोप कहना ही अुचित है। यही बात विटप्रकोप या वैश्यप्रकोपकी भी है। शरीरका नाश होनेका समय आनेपर तीनो धातुओंका प्रकोप हो जाता है। अिसे त्रिदोष कहते है। यूरोपमें आज क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अिन तीनो वर्णों-का अेक साथ प्रकोप हुआ है, अैसा साफ-साफ नजर आ रहा है, और वहांके ब्राह्मण अिन तीनों वर्णोंके किंकर बन गये है।

आ जाते हैं, वहाँ शैतानको अलग न्योता देनेकी जरूरत नही रहती। असीलिये दशहरेके दिन लूटकर लाये हुअे सोनेको सब रिश्तेदारोमे वितरित करना अुस दिनकी अेक महत्वकी धार्मिक विधि तय की गअी है।

सुवर्ण-वितरणकी अिस प्रथाका सबंध रघुवंशके राजा रघुके साथ जोडा गया है।

रघुराजाने विश्वजित् यज्ञ किया। समुद्रवलयांकित पृथ्वी-को जीतनेके बाद सर्वस्वका दान कर डालना विश्वजित् यज्ञ कहलाता है। जब रघुराजाने अिस तरहका विश्वजित् यज्ञ पूरा किया, तब अुसके पास वरतन्तु ऋषिका विद्वान् और तेजस्वी शिष्य कौत्स जा पहुँचा। कौत्सने गुरुसे चौदहो विद्याअे ग्रहण की थी, अुसकी दक्षिणाके तौरपर चौदह करोड सुवर्ण मुद्राअे गुरुको प्रदान करनेकी अुसकी अिच्छा थी। लेकिन सर्वस्वका दान करनेके बाद बचे हुअे मिट्टीके बर्तनोसे ही राजाको आदरा-तिथ्य करते देख कौत्सने राजासे कुछ भी न मांगनेका निश्चय किया। राजाको आशीर्वाद देकर वह जाने लगा। रघुने बडे आग्रहके साथ अुसे रोक रखा, और दूसरे दिन स्वर्गपर धावा बोलकर अिन्द्र और कुबेरके पाससे धन लानेका प्रबन्ध किया। रघुराजा चक्रवर्ती था। अतः अिन्द्र और कुबेर भी अुसके माण्डलिक थे। ब्राह्मणको दान देनेके लिये अुनसे कर लेनेमें संकोच किस बातका था? रघुराजाकी चढाअीकी बात सुनकर देवता लोग डर गये। अुन्होने शमीके अेक पेडपर सुवर्ण-मुद्राओकी वृष्टि की। रघुराजाने सुबह अुठकर देखा तो जितना चाहिये अुतना सुवर्ण आ गया था। अुसने कौत्सको वह ढेर दे दिया। कौत्स चौदह करोडसे ज्यादा मुद्रा लेता न था और राजा दानमे दिया हुआ धन वापस लेनेको तैयार न था। आखिर अुसने वह धन नगरवासियोको लुटा दिया। वह दिन आश्विन शुक्ला दशमीका था, अिसीलिअे आज भी दशहरेके दिन शमीका पूजन करके लोग अुसके पत्ते सोना समझकर

लूटते हैं और अेक-दूसरेको देते है। कुछ लोग तो शमीके नीचेकी मिट्टीको भी सुवर्ण समझकर ले जाते है।

शमीका पूजन प्राचीन है। अैसा माना जाता है कि शमी-के पेडमे ऋषियोका तपस्तेज है। पुराने जमानेमे शमीकी लकडियोको आपसमे घिसकर लोग आग सुलगाते थे। शमीकी समिधा आहुतिके काम आती है। पाण्डव जब अज्ञातवास करने गये थे, तब अुन्होने अपने हथियार शमीके अेक पेडपर छिपा रखे थे, और वहां कोअी जाने न पाये, अिसके लिये अुन्होने अुस पेडके तनेसे अेक नर-कंकाल बांध रखा था।

रामचन्द्रजीने रावणपर जो चढाअी की, सो भी विजया-दशमीके मुहूर्त्तपर। आर्य लोगोने—हिन्दुओने अनेक बार विजयादशमीके मुहूर्त्तपर ही धावे बोलकर विजय प्राप्त की है। अिससे विजयादशमी राष्ट्रीय विजयका मुहूर्त्त या त्योहार बन गया है। मराठे और राजपूत अिसी मुहूर्त्तपर स्वराज्यकी सीमाको बढानेके हेतु शत्रु-प्रदेशपर आक्रमण करते थे। शस्त्रास्त्र-से सजकर और हाथी-घोडोपर चढकर नगरके बाहर जलूस ले जानेका रिवाज आज भी है। वहां शमीका और अपराजिता देवीका पूजन सीमोल्लघनका प्रमुख भाग है।

अैसा माना जाता है कि शमी और अश्मतक वृक्षमे भी शत्रुका नाश करनेका गुण है। अुस्तरेके पेडको अश्मन्तक कहते हैं। जहां शमी नही मिलती, वहां अुस्तुरेके पेडकी पूजा होती है। अुस्तुरेके पत्तेका आकार सोनेके सिक्केकी तरह गोल होता है, और जुडे हुअे जवाबी कार्ड (Reply Card) की तरह अुसके

१ महिषासुर नामके अेक प्रबल दैत्यने बडा आतक फैलाया था। जगदबाने नौ दिन तक अुससे युद्ध करके विजयादशमीके दिन अुसका वध किया था। अिस आशयकी अेक कहानी पुराणोमे मिलती है। अिसीलिये अपराजिताका पूजन करने और महिष यानी भैंसकी बलि चढानेका रिवाज पडा है।

पत्ते मुडे हुअे होते है, जिससे वे ज्यादा खूबसूरत दिखाअी देते हैं।

दशहरेके दिन चौमासा लगभग खत्म हो जाता है। शिवाजीके किसान-सैनिक दशहरे तक खेतीकी चिन्तासे मुक्त हो जाते थे। कुछ काम बाकी न रहता था। सिर्फ फसल काटना ही बाकी रह जाता था। पर अुसे तो घरकी औरतें, बच्चे और बूढे लोग कर सकते थे। अिससे सेना अिकट्ठी करके स्व-राज्यकी सीमाको बढानेके लिये सबसे नजदीक महूर्त्त दशहरेका ही था। अिसी कारण महाराष्ट्रमे दशहरेका त्यौहार बहुतही लोकप्रिय था और आजभी है।

हम यह देख सके हैं कि विजयादशमीके अेक त्यौहारपर अनेक सस्कारो, अनेक सस्करणो और अनेक विश्वासोकी तहे चढी हुअी हैं। कृषि-महोत्सव क्षात्र-महोत्सव बन गया, सीमोल्लघनका परिणाम दिग्विजय तक पहुँचा, स्व-सरक्षणके साथ सामाजिक प्रेम और धनका विभाग करनेकी प्रवृत्तिका सम्बन्ध दशहरेके साथ जुडा। लेकिन अेक अैतिहासिक घटनाको दशहरे-के साथ जोडना अभी हम भूल गये है, जोकि अिस ज़मानेमे अधिक महत्त्वपूर्ण है । 'दिग्विजयसे धर्मजय श्रेष्ठ है। बाह्य शत्रुका वध करनेकी अपेक्षा हृदयस्थ षड्रिपुओको मारनेमे ही महान् पुरुषार्थ है। नवधान्यकी फसल काटनेकी बनिस्बत पुण्य-की फसल काटना अधिक चिरस्थायी होता है।' सारे ससार-को अैसा अुपदेश देनेवाले मारजित्, लोकजित्, भगवान् बुद्धका जन्म विजयादशमीके शुभ महूर्त्तपर ही हुआ था। विजयादशमी-के दिन बुद्ध भगवान्‌का जन्म हुआ, और वैशाखी पूर्णिमाके दिन अुन्हे चार शान्तिदायी आर्यतत्त्वोका और अष्टागिक मार्गका बोध हुआ, यह बात हम भूल ही गये है। विष्णुका वर्तमान अवतार बुद्ध अवतार ही हैं। अिसलिये विजयादशमी-का त्यौहार हमें भगवान् बुद्धके मार-विजयका स्मरण करके ही मनाना चाहिये।

अक्तूबर, १९२२

: ६

दीवाली

—१—

बलि राजाने दानका व्रत लिया था। जो याचक जो वस्तु माँगता, राजा अुसे वह वस्तु देता। बलिके राज्यमे जीव-हिंसा, मद्यपान, अगम्यागमन, चोरी और विश्वासघात—अिन पाँच महापापोका कही नामतक न था। सर्वत्र दया, दान और अुत्सवका बोलबाला रहता था। अन्तमे बलिराजाने वामन-मूर्ति श्रीकृष्णको अपना सर्वस्व अर्पण किया। बलिकी अिस दानवीरताके स्मारकके रूपमे श्रीविष्णुने बलिके नामसे तीन दिन-रातका त्योहार निश्चित किया। यही हमारी दीवाली है। बलि-के राज्यमे आलस्य, मलिनता, रोग और दारिद्र्यका अभाव था। बलिके राज्यमे या लोगोके हृदयमे अंधकार न था। सभी प्रेम-से रहते थे। द्वेष, मत्सर या असूयाका कारण ही न था। बलि-का राज्य जन साधारणके लिये अितना लोकोपकारी था कि अुसके कारण प्रत्यक्ष श्रीविष्णु अुसके द्वारपाल बनकर रहे। अिसी कारण यह निश्चय किया गया कि बलिराजाके स्मारक-स्वरूप अिस त्योहारसे पहले लोग कूडा-कचरा, कीचड और गंदगीका नाश करे, जहाँ-जहाँ अंधेरा हो वहाँ दीपावलिकी शोभा करे, लोगोके प्राण लेनेवाले यमराजका तर्पण करे, पूर्वजोका स्मरण करे, मिष्ठान्न भक्षण करे और सुगन्धित धूप-दीप तथा पुष्प-पत्रोसे सुन्दरता बढावे। जिन दिनो साय-कालकी शोभा अितनी मनोहारी होती है कि यक्ष, गंधर्व, किन्नर औषधि, पिशाच, मंत्र और मणि सभी अुत्सवका नृत्य करते है। बलि-राज्यका स्मरण करके लोग तरह-तरहके रंगोसे चौक पूरते है, सफेद चावल लगाकर भाँति-भाँतिके सुन्दर चित्र बनाते है, गाय, बैल आदि गृह-पशुओको सजा-धजाकर अुनका जुलूस निकालते है, श्रेष्ठ और कनिष्ठ सब मिलकर

यष्टिकाकर्षणका खेल खेलते हैं। यष्टिकाकर्षण युरोपीय लोगोके रस्सी खीचनेके 'टग ऑफ वॉर'—जैसा अेक खेल है। अिसीको हमने 'गजग्राह'का नया नाम दिया हैं। पुराने जमानेमे राजा लोग दीवालीके दिन अपनी राजधानीके सभी लडकोको सार्वजनिक रूपसे आमत्रण देते थे और अुनसे खेल खेलते थे।

सुगधित द्रव्योकी मालिश करके नहाना, तरह-तरहके दीये कतारमे जलाना और अिष्ट-मित्रोके साथ मिष्ठान्नका भोजन करना दीवालीका प्रधान कार्यक्रम है। बलिके राज्यमें प्रवेश करना हो तो द्वेष, मत्सर, असूया, अपमान आदि सब भूलकर सबके साथ अेकदिल हो जाना और अिस तरह निष्पाप होकर नये वर्षमे प्रवेश करना हमारा प्राचीन रिवाज है।

अिसी दिन सत्यभामाने श्रीकृष्णकी मददसे नरकासुरका नाश करके सोलह हजार राजकन्याओंको मुक्त किया था।

दीपावलिके अुत्सवमे स्त्रियोकी अुपेक्षा नही की गअी है। स्त्री-पुरुषोके सब सम्बन्धोमे भाअी-बहनका सबंध शुद्ध सत्विक प्रेम और समानताके अुल्लासका होता हैं। पति-पत्नीका या माता-पुत्रका सम्बन्ध अितना व्यापक और अितना सात्त्विक अुल्लासयुक्त नही होता।

धन-तेरतसे लेकर भाअी दूज तकके पाँचों दिनोके साथ यमराजका नाम जुडा हुआ है। भला, अिसका उद्देश्य क्या होगा ?

अिन्द्रप्रस्थका राजा हस मृगयाके लिये घूम रहा था। हैम नामक अेक छोटेसे राजा ने अुसका आतिथ्य किया। अुसीदिन हैमके यहाँ पुत्रोत्सव था। राजा आनन्दोत्सव मना ही रहा था कि अितनेमे भवितव्यताने आकर कहा कि विवाहके बाद चौथे ही दिन यह पुत्र सर्प-दशसे मर जायगा। हस राजाने अुस पुत्रको बचानेका निश्चय किया। अुसने यमुना नदीके दहमें अेक सुरक्षित घर बनवाकर हैमराजको वहाँ आकर रहनेका

निमत्रण दिया। सोलह साल बाद राजपुत्रका विवाह हुआ। विवाहसे ठीक चौथे ही दिन अुस दुर्गम स्थानमे भी सर्प प्रकट हुआ और राजपुत्र मर गया। आनन्दकी घडी अपार शोकमय बन गअी। क्रूर यमदूतोको भी अिस करुण अवसर पर दया आअी, और अुन्होने यमराजसे यह वर माँग लिया कि दीवालीके पाँच दिनोमे जो लोग दीपोत्सव मनाये, अुनपर अिस तरहकी आपत्ति न आवे।

यह हुअी धन-तेरसकी कहानी। नरक-चतुर्दशीके दिन यमराजका और भीष्मका तर्पण विशेषरूपसे कहा गया है। दीवाली अमावस्याका दिन। अुस दिन यमलोकवासी पितरोका पूजन और श्राद्ध तो करना ही पडता है। प्रतिपदाके दिन यमराजसे सम्बन्ध रखनेवाली कोअी कथा नही कही गअी है, लेकिन अैसा मान लेनेमे कोअी हर्ज नही कि यमराज भी अुस दिन अपना नया बहीखाता खोलते होगे। भैयादूजके दिन यमराय अपनी बहन यमुनाके घर भोजन करने जाते है। दीपावलीकी स्वच्छन्दताके साथ यमराजका स्मरण रखनेमे अुत्सवकारोका अुद्देश्य चाहे जो रहा हो, लेकिन अिसमे शक नही कि अुसका असर बहुत अच्छा होता होगा। जिसने अुत्सवमे भी सयमका पालन किया होगा, वही यमराजके पाश-से मुक्त रह सकेगा।

नवम्बर, १९२१

—२—

दीवानखाने मे अेकाध सुन्दर चीज रखनेका रिवाज प्रत्यक घरमे होता है। बाहरका कोअी व्यक्ति आता है, तो सहज ही अुसकी नजर अुस तरफ जाती है और वह पूछ बैठता है— 'वाह! कैसी बढिया चीज है! यह आपको कहाँसे मिली?' लेकिन अजायबघरमे तो जहाँ देखिये वहाँ सुन्दर-ही-सुन्दर चीजे दिखाअी देती है। अुन्हे देखकर मनुष्य बहुत खुश होता है। लेकिन साथ ही वह अुतना ही पसोपेशमे भी पड जाता

है। वह इसी सोचमे रहता है कि क्या देखू ?

हमारी दीवाली त्योहारोका अेक अैसा ही अजायव-घर है। अिसे सव त्योहारोका स्नेह-सम्मेलन भी माना जा सकता है। दीवालीका त्योहार पाँच दिनोका माना जाता है। लेकिन सच पूछिये तो ठेठ नवरात्रिके त्योहारसे अिसका प्रारभ होता है, और भाअीजीकी भेंटमे अिसका आनन्द अपनी परिसीमा तक पहुँच जाता है।

शास्त्रोमे प्रत्येक त्योहारोका महात्म्य और कथा दी गअी है। दीवालीके वारेमे अितनी कहानियाँ है कि यदि 'दीवाली महात्म्य' लिखा जाय, तो वह अेक वडा पोथा वन जायगा। धनतेरसकी कथा अलग, नरक चौदसकी कहानी अलग, और अमावस (दीवाली) की अपनी अेक कहानी अलग। अिसके वाद नया माल शुरू होता है। और दूजके दिन वहनके घर भाअी अतिथि वनकर जाता है। दीवाली गृहस्थाश्रमी त्योहार है, जनताका त्योहार है। श्रावणीके दिन धर्म और शास्त्र प्रधान होते हैं, दशहरेके दिन युद्ध और शस्त्रास्त्र प्रमुख रहते हैं, दीवालीके दिन लक्ष्मी और धनको प्राधान्य प्राप्त होता है और होली तो खेल और रग-रागका त्योहार है। जिस तरह मनुष्योमें चार वर्ण है, अुसी तरह त्योहारोमे भी चार वर्ण हो गये हैं।

पुरातन कालमें लोग श्रावणीके दिन जहाजोमे वैठकर समुद्र पार देश-देशान्तरमे सफर करने जाते थे। दशहरेके दिन राजा लोग और योद्धागण अपनी सरहदोको पार करके शत्रुपर चढाअी करने निकलते थे और दीवालीके दिन राजा लोग और व्यापारीगण स्वदेश वापस आकर कौटुम्बिक सुखका अुपभोग करते थे।

पुराणोमें कथा है कि नरकासुर नामका अेक पराक्रमी राजा प्राग्ज्योतिपमे राज करता था। भूटानके दक्षिण तरफ जो प्रदेश है अुसे प्राग्ज्योतिप कहते थे। आज वह असम प्रान्त

मे सम्मिलित है । नरकासुरका दूसरे राजाओसे लडना तो घडी भरके लिये सहन कर लिया जा सकता था, किन्तु उस दुष्टने स्त्रियोको भी सताना शुरू किया । अुसके कारागारमे सोलह हजार राजकन्याअे थी । श्रीकृष्णने विचार किया कि यह स्थिति हमारे लिये कलकरूप है । अब तो नरकासुरका नाश करना ही होगा । सत्यभामाने कहा—"आप स्त्रियोके अुद्धार-के लिये जा रहे हैं, तो फिर मै घर कैसे रह सकती हूँ ? नरकासुरके साथ मै ही लडूँगी । आप चाहे मेरी मददमे रहे ।"

श्रीकृष्णने यह बात मान ली । अुस दिन रथमे सत्यभामा आगे बैठी थी और श्रीकृष्ण मददके लिये पीछेकी तरफ बैठे थे । चतुर्दशीके दिन नरकासुरका नाश हुआ । देश स्वच्छ हो गया । लोगोने आनन्द मनाया । यह बतानेके लिये कि नरकासुरका बडा भारी जुल्म दूर हुआ, लोगोने रातको दीपोत्सव मनाया और अमावसकी रातमे पूर्णिमाकी शोभा दिखलाअी ।

लेकिन यह नरकासुर अेक बार मरनेसे मरनेवाला नही है । अुसे तो हर साल मारना पडता है । चौमासेमे सब जगह कीचड हो जाती है, अुसमे पेडके पत्ते, गोबर, कीडे वगैरा पड जाते है, और अिस तरह गाँवके आस-पास नरक—गदगी—फैल जाता है । वर्षाके बाद जब भादोकी धूप पडती है, तो अिस नरककी दुर्गन्ध हवामे फैल जाती है, जिससे लोग बीमार पडते है । अिसलिये बहादुर लोगोकी आरोग्य-सेना कुदाली-फावडा वगैरा लेकर अिस नरकके साथ लडने जाय, गाँवके आस-पासके नरकका नाश करे, और घर आकर बदनपर तेल मलकर नहाये । गोशाला तो साफ की हुअी होती ही है, अुसमे से मच्छरोको निकाल देनेके लिये रात वहाँ दीया जलाये, धुआँ करे और फिर प्रसन्न होकर मिष्टान्नो और पक्वान्नोका भोजन करे ।

  

दीवालीके बाद नया वर्ष शुरू होता है, और घरमे नया

अनाज आता है। हिन्दुओंके घरोंमें वेदकालसे लेकर आजतक अिस नवान्नकी विधिका श्रद्धापूर्वक पालन होता है। महाराष्ट्रमें अिस भोजनसे पहले अेक कडुअे फलका रस चखनेकी प्रथा है। अिसका अुद्देश्य यह होगा कि कडुअी मेहनत किये बिना मिष्टान्न नही मिल सकता। भगवद्गीतामें लिखा है कि आरम्भमे जो जहरके समान है, और अन्तमें अमृतके समान, वही सात्त्विक सुख है। गोआमें दीवालीके दिन चिअुड़ेका मिष्टान्न बनाते हैं और जितने भी अिष्ट-मित्र हो, अुन सबको अुस दिन निमंत्रण देते हैं। अर्थात् प्रत्येक व्यक्तिको अपने प्रत्येक अिष्ट-मित्रके यहाँ जाना ही चाहिये। प्रत्येक घरमे फलाहार रखा रहता है, अुसमेसे अेकाध टुकडा चखकर आदमी दूसरे घर जाता है। व्यवहारमे कटुता आयी हो, दुश्मनी बंधी हो, या जो भी कुछ हुआ हो, दीवालीके दिन मनसे वह सब निकाल देते हैं, और नया प्रीति-सम्बन्ध जोडते हैं। जिस प्रकार व्यापारी दीवाली-पर सब लेन-देन चुका देते हैं, और नये वहीखातोंमें बाकी नही खीचते, अुसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति नये वर्षके प्रारम्भमें हृदयमें कुछ भी वैर या ज़हर बाकी नहीं रहने देता। जिस दिन बस्तीमेंसे नरक—गंदगी—निकल जाय, हृदयसे पाप निकल जाय, रात्रिमेंसे अन्धकार निकल जाय, हृदयसे और सिरपरसे कर्ज दूर हो जाय, अुस दिनसे बढकर दूसरा पवित्र दिन कौनसा हो सकता है?

३०-११-२१

—२—

जो सोलहो आने पक्की है, जिसके बारेमें तनिक भी शक नहीं, अैसी चीज़ जिन्दगीमे कौनसी है? सिर्फ अेक, और वह है मृत्यु!

राजा हो या रंक, बूढी कुब्जा हो या लावण्यवती अिन्दु-मती, शेर हो या गाय, बाज़ हो या कबूतर, मृत्युकी भेंट तो हरअेकसे होने ही वाली है। अब सवाल यह है कि अिस निश्चित

अतिथिका स्वागत हम किस तरह करे ?

हम जिस प्रकार अुसे पहचानते हो, असी प्रकार अुसका स्वागत करें। मृत्युका स्वरूप कटहल-जैसा है। अूपर तो सब कांटे-ही-कांटे होते है, अन्दरका स्वाद न मालूम कैसा हो ! मृत्यु अर्थात् घडीभरका आराम, मृत्यु अर्थात् नाटकके दो अकोके मध्यावकाशकी यवनिका, मृत्यु अर्थात् वाणीके अस्खलित प्रवाहमे आनेवाले विरामचिह्न। अग्रेज कवि दूजके चाँदका स्वागत करते समय 'बालचन्द्रकी गोदमे वृद्धचन्द्र' कहकर अुसका वर्णन करते है। अमावस तक पुराना चन्द्र सूख जाता है, क्षीण हो जाता है। अब वह अपने पैरोपर कैसे खडा होगा ? अिसलिये अुससे पैदा हुआ बालचन्द्र अपनी बारीक भुजाअे फैलाकर अुस बूढे काले चन्द्रको अठा लेता है, और दूसरे दिन पश्चिमके रगमच पर ले आता है, और यो सारी दुनिया द्वारा तालियाँ बजाकर किये जानेवाले स्वागतको स्वीकार करता है। मुसलमान लोग 'अीदका चाँद' कहकर अिसीका स्वागत करते हैं। मृत्यु तो पुनर्जन्मके लिये ही है। प्रत्येक नअी पीढी पुरानी पीढीका तेज लेकर जवानीके जोशमे आगे बढती रहती है, और पुरानी पीढी बुढापेके परावलम्बनको महसूस करती हुअी लुप्त हो जाती है। यह कैसे भुलाया जा सकता है कि बूढा, ठूंठा, जाडा प्रफुल्ल नववसन्तको अगुली पकडकर ले आता है ? अिस बातको भुलानेसे काम न चलेगा कि हेमन्तकी काटनेवाली ठडकमे ही वसन्तका प्रसव है।

दीवालीके दिन वसन्तकी अपेक्षासे, वसन्तकी मार्ग-प्रतीक्षासे अगर हम दीपोत्सव कर सकते है, मिष्टान्न भोजन कर सकते है, आनन्द और मगलताका अनुभव कर सकते है, तो हम मृत्युसे क्यो न खुश हो ?

दीवाली हमें सिखाती है कि मौतका रोना मत रोओ, मृत्युमे ही नवयौवन प्रदान करनेकी, नवजीवन देनेकी शक्ति है, दूसरोमे नही।

दीवालीका त्योहार मौतका अुत्सव है, मृत्युका अभिनन्दन है, मृत्यु परकी श्रद्धा है। निराशासे अुत्पन्न होनेवाली आशाका स्वागत है।

रुद्र ही शिव है, मृत्युका दूसरा रूप ही जीवन है।

यह किसे अच्छा न लगेगा कि यमराज अपनी बहनके घर जायें? मृत्यु नित्यनूतनताके घर अुत्सव मनाये?

मृत्यु अग्नि नही, बल्कि तेजस्वी रत्नमणि है, जिसे छूनेमें कोअी खतरा नही।

अक्तूबर, १९२२

: ७ :

वसन्त पंचमी

वसन्त पचमी अर्थात् ऋतुराजका स्वागत!

माघ शुक्ला पचमीको हम वसन्त पचमी कहते हैं, लेकिन प्रत्येक व्यक्तिके लिए अुसी दिन वसन्त पचमी नही होती। ठडे खूनवाले मनुष्यके लिये वह अितनी जल्दी नही आती।

वसन्त पंचमी प्रकृतिका यौवन है। जिसकी रहन-सहन प्रकृतिसे अलग न पड़ गअी हो, जो प्रकृतिके रगमें रग गया हो, वह मनुष्य विना कहे ही, वसन्त पचमीका अनुभव करता है। नदीके क्षीण प्रवाहमे अेकाअेक आयी हुअी जोरकी बाढको जिस प्रकार हम अपनी आँखोंसे साफ देखते हैं, अुसी प्रकार हम वसन्तको भी आता हुआ देख सकते हैं। अलबत्ता, वह अेक ही समयपर सबके हृदयोमे प्रवेश नही करता।

जब वसन्त आता है तो यौवनके अुन्मादके साथ आता है। यौवनमे सुन्दरता होती है, लेकिन यह नही कहा जा सकता कि अुसमे हमेशा क्षेम भी होता है। यौवनमे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यकी रक्षा करना बहुत ही कठिन हो जाता है। यही हालत वसन्तमे भी होती है। तारुण्यकी तरह वसन्त भी मनमौजी और चचल होता है। अिन दिनो कभी जाड़ा

मालूम होता है, कभी गरमी, कभी जी अूबने लगता है, तो कभी अुल्लास मालूम होने लगता है। खोअी हुअी शक्तिको जाडेमे फिरसे प्राप्त किया जा सकता है। मगर जाडेमे प्राप्त की हुअी शक्तिको वसन्तमे सचित कर रखना आसान नही है। वसन्तमे सयमका पालन किया जाय, तो सारे वर्षके लिये आरोग्यकी रक्षा हो जाती है। वसन्तऋतुमें जीवमात्रपर अेक चित्ताकर्षक कान्ति छा जाती है, पर वह अुतनी ही खतरनाक भी होती है।

वसन्तके अुल्लासमे सयमकी भाषा शोभा नही देती, सहन भी नही होती, परन्तु अिसी समय अुसकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। अगर क्षीण मनुष्य पथ्यसे रहे, तो अुसमे कौन आश्चर्यकी बात है? अुससे लाभ भी क्या? किसी तरह जीवित-रहनेमे क्या स्वारस्य है? सुरक्षित वसन्त ही जीवनका आनन्द है।

वसन्त अुडाअू होता है। अिसमे भी प्रकृतिका तारुण्य ही प्रकट होता है। कितने ही फूल और फल मुरझा जाते है। मानो प्रकृति जाडेकी कजूसीका बदला ले रही हो। वसन्तकी समृद्धि कोअी शाश्वत समृद्धि नही। जितना कुछ दिखाअी देता है, अुतना टिकता नही।

राष्ट्रका वसन्त भी अक्सर अुडाअू होता है। कितने ही फूल और फल बडी-बडी आशाअे दिखाते है, लेकिन परि-पक्व होनेसे पहले ही मुरझाकर गिर पडते है। सच्चे वही है, जो शरद् ऋतु तक कायम रहते है। राष्ट्रके वसन्तमे सयमकी वाणी अप्रिय मालूम होती है, परन्तु वही पथ्यकर होती है।

अुत्सवमे विनय, समृद्धिमे स्थिरता, यौवनमे सयम—यही सफल जीवनका रहस्य है। फूलोकी सार्थकता अिसी बातमे है कि अुनका दर्प फलके रसमे परिणत हो।

वसन्त पचमीके अुत्सवकी सृष्टि न तो शास्त्रकारो द्वारा हुअी है, और न धर्माचार्योने अुसे स्वीकार ही किया है। अुसे तो कवियो और गायको, तरुणो और रसिकोने जन्म दिया है।

कोयलने अुसे आमत्रण दिया है और फूलोने अुसका स्वागत किया है। वसन्तके मानी हैं, पक्षियोका गान, आम्र-मञ्जरियोकी सुगन्ध, शुभ्र अभ्रोकी विविधता और पवनकी चञ्चलता। पवन तो हमेशा ही चञ्चल होता है, लेकिन वसन्तमे वह विशेष भावसे क्रीडा करता है। जहाँ जाता है, वहाँ पूरे जोश-खरोशके साथ जाता है, जहाँ बहता है, वहाँ पूरे वेगसे बहता है, जब गाता है तब पूरी शक्तिके साथ गाता है और थोडी देरमे बदल भी जाता है।

वसन्तसे सगीतका नया सूत्र शुरू होता है। गायक आठो पहर वसन्तके आलाप ले सकते हैं। वे न तो पूर्व रात्रि देखते हैं, न अुत्तर रात्रि।

जब सयम, औचित्य और रस तीनोका संयोग होता है, तभी सगीतका प्रवाह चलता है। जीवनमे भी अकेला सयम स्मशानवत् हो जायगा, अकेला औचित्य दंभरूप हो जायगा, और अकेला रस क्षणजीवी विलासितामे ही खप जायगा। अिन तीनोका सयोग ही जीवन है। वसन्तमे प्रकृति हमे रसकी बाढ प्रदान करती है। अैसे समय सयम और औचित्य ही हमारी पूंजी होने चाहियें।

फरवरी, १९२३

: ८ :

हरिणोंका स्मरण

अेक विशाल वन था। बीस-बीस, तीस-तीस कोस तक न झोपडीका पता था, न मुसाफिरोके कामचलाअू चूल्होका। वनमे अेक रमणीय तालाव था। तालावके पास कुछ हरिण रहते थे। तालावके किनारे बेलका अेक पेड था। अुस पेडके नीचे पाषाणरूपमे महादेवजी विराजमान थे। हरिण रोज तालावमे नहाते, महादेवजीके दर्शन करते, और चरने जाते। दोपहरको आकर बेलके पेडके नीचे विश्राम करते, शामको

तालाबका पानी पीकर महादेवजीके दर्शन करते और सो जाते। बिना कोअी शास्त्र पढे ही हरिणोको धर्मका ज्ञान हुआ था। अिसलिये वे सन्तोष-पूर्वक अपना निर्दोष जीवन व्यतीत करते थे।

माघका महीना था। कृष्णपक्षकी चतुर्दशीके दिनकी बात है। अेक विकराल व्याध अुस वनमे घुसा। शाम हुआ ही चाहती थी। व्याध बहुत ही भूखा था। व्याधोकी भूख अैसी-वैसी भूख नही होती। अगर अुन्हे कुछ न मिले तो वे कच्चा मास ही खाने बैठ जाते है। लेकिन हमारे अिस व्याधको अपनी भूखका दु ख न था—"घरमे बाल-बच्चे भूखे है, अुन्हे क्या खिलाअू ? क्या मुह लेकर घर जाऊँ ? अगर शिकार न मिला तो खाली हाथ घर जानेकी अपेक्षा रात वनमे ही रह जाना अच्छा होगा—शायद कुछ हाथ लग जाय।" अिस तरह सोचता हुआ वह तालावके किनारे आया और बेलके पेडपर चढकर बैठ गया।

अपने बाल-बच्चोके भरण-पोषणके लिये स्वय बहुत कष्ट अुठाने और खतरोका सामना करनेको ही वह अपना धर्म समझता था। अिससे अधिक व्यापक धर्मका ज्ञान अुसे नही था।

रात हुई। कृष्णपक्षकी घोर अधेरी काली रात। कुछ दिखाअी न पडता था। व्याधने तालावकी ओर देखनेमे रुकावट डालनेवाले बेलके पत्तोको तोड-तोड कर नीचे फेक दिया। अितनेमे वहॉ दो-चार हरिण पानी पीने आये। पेडपर बैठे व्याधको देखकर वे चौक पडे और निराशाभरे स्वरमे बोले—'हे व्याध, अपने धनुषपर बाण न चढा। हम मरनेको तैयार है, पर हमे अितना समय दे दे कि हम घर जाकर अपने बाल-बच्चो और सगे-सम्बन्धियोमे मिल आये। सूर्योदयसे पहले ही हम यहॉ हाजिर हो जायेंगे।"

व्याध खिलखिलाकर हँस पडा। बोला—"क्या तुम मुझे बुद्धू समझते हो ? क्या मै अिस तरह अपने हाथ आये

शिकारको छोड दूं ? मेरे बाल-बच्चे तो घर भूखो तडप रहे हैं।"

"हम भी तेरी तरह बाल-बच्चोका ही खयाल करके अितनी छुट्टी चाह रहे हैं। अेक बार आजमाकर तो देख कि हम अपने वचनका पालन करते है या नही ?"

व्याधके मनमे श्रद्धा और कौतुक जाग अुठा। ठीक सूर्योदयसे पहले लौट आनेकी ताकीद करके अुसने अुन हरिणो-को घर जाने दिया और खुद बेलके पत्तोको तोडता हुआ रात भर जागता रहा। श्रद्धावान् व्याधके हाथो अपने सिरपर पडे विल्वपत्रोसे महादेवजी सतुष्ट हुअे।

ठीक सूर्योदयका समय हुआ, और हरिणोका अेक बडा दल वहां आ पहुंचा।

हरिण घर गये, बाल-बच्चोसे मिले, अपने सीगोसे अेक-दूसरेको खुजलाया, नन्हे बच्चोको प्रेमसे चाटा, अुन्हे व्याधकी कहानी कह सुनाओ और विदा मागी।

"दुष्ट व्याधके साथ वचन-पालन कैसा ? 'शठ प्रति शाठ्य कुर्यात्।' पैरोमे जितना जोर हो अुतना सब जोर लगाकर यहांसे चुपचाप भाग जाओ!" अैसी सलाह देनेवाला अुनमे कोओ न निकला। सगे-सम्बन्धियोने कहा—"चलो हम भी साथ चलते हैं। स्वेच्छासे मृत्यु स्वीकार करनेपर मोक्ष मिलता है। आपके अपूर्व आत्म-यज्ञको देखकर हम पुनीत होगे!"

बाल-बच्चे साथ हो लिये। मानो सब व्याधकी हिंसताकी परीक्षा करने ही निकले हो!

सूर्योदयसे पहले ही सारा दल वहां आ पहुंचा। रातवाले हरिण आगे बढे और बोले—"लो भाओ, हम वधके लिये तैयार है।" दूसरे हरिण भी बोल अुठे—"हमे भी मार डालो! अगर हमे मारनेसे तुम्हारे बाल-बच्चोकी भूख शान्त होती है, तो अच्छा ही है।" व्याधकी हिंसावृत्ति रात्रिकी तरह लुप्त हो गओ। सारे दिनका अुपवास और सारे रातके जागरण-

से अुसकी चित्तवृत्ति अन्तर्मुख हुअी थी। तिसपर अिन प्रतिज्ञा-पालक हरिणोंका धर्माचरण देखकर वह दंग रह गया। उसके हृदयमें नया प्रकाश फैला। अुसे प्रेम-शौर्यकी दीक्षा मिली। वह पेड़से अुतरा और हरिणोंकी शरण गया। दो पैर-वालेने चारपैरवाले पशुओंके पैर छुअे। आकाशसे श्वेत पुष्पों-की वृष्टि हुअी। कैलाससे अेक बड़ा विमान अुतर आया। व्याध और हरिण अुसमें बैठे और कल्याणकारिणी शिवरात्रि-का महात्म्य गाते हुअे शिवलोक सिधारे। आज भी वे दिव्य रूपमें चमकते हैं।[1]

महाशिवरात्रिका दिन मानो अिन धर्मनिष्ठ, सत्यव्रत हरिणोंके स्मरणका ही दिन है।[2]

मार्च, १९२२

---

१ मृगनक्षत्र और व्याध।

२ अेकादशी, अष्टमी, चतुर्थी और शिवरात्रि ये सब हिन्दू महीने में हमेशा आनेवाले त्योहार हैं। वैष्णवोंने अेकादशीको सबके लिये लोकप्रिय बना दिया है। गणपतिके अुपासक विनायकी और संकष्टी चतुर्थीका व्रत रखते हैं। देवीके अुपासक अष्टमीका व्रत रखते हैं। शिवरात्रि हर महीने कृष्णपक्षकी चतुर्दशीके दिन आती है। शैव लोग शिवरात्रिका व्रत रखते हैं। जिस तरह अेकादशियोंमें आषाढी और कार्तिकी अेकादशियां महा-अेकादशियां हैं, अुसी तरह माघ महीनेकी शिवरात्रि महाशिवरात्रि है।

प्रत्येक मासके प्रत्येक त्योहारका अपना महात्म्य और अुसकी अपनी अेक कथा होती है। अुनमेंसे महाशिवरात्रिकी कथा अूपर दी गअी है।

कहानीके अिस पुरातन क्षेत्रकी और लोक-कथाओंका संग्रह करने-वाले संशोधकोंका ध्यान जाना चाहिये।

: ९ :

गुलामोंका त्योहार

प्रत्येक त्योहारमें कुछ-न-कुछ ग्रहण करने योग्य अवश्य होता है। लेकिन क्या आजकलकी होलीसे भी कुछ शिक्षा मिल सकती है ? पिछले बीस-पच्चीस बरसोंमें यह त्योहार जिस ढंगसे मनाया गया है, अुसे देखते हुअे तो अिसके विषयमें किसी तरहका अुत्साह अुत्पन्न नहीं हो सकता। न अिसका प्राचीन अितिहास, और न पौराणिक कथाअें ही अिस त्योहार-पर कोअी अच्छा प्रकाश डालती हैं। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही चाहिये कि होली अेक प्राचीनतम त्योहार है। जाडेके समाप्त होनेपर अेक ज़बरदस्त होली जलाकर आनन्दोत्सव मनानेका रिवाज हरअेक देशमें और हरअेक ज़मानेमें मौजूद रहा है। अिस अुत्सवमें लोग संयमकी लगाम ढीली छोडकर स्वच्छन्दताका थोडा आस्वाद लेना चाहते हैं।

हिन्दुओंमें अकेले मनुष्योंकी ही जाति नहीं होती, बल्कि देवताओं, पशु-पक्षियों और त्योहारोंकी भी अपनी जातियाँ होती हैं। स्वर्गके अष्टावसु जातिके वैश्य हैं, नाग और कबूतर ब्राह्मण होते हैं और तोता बनिया माना जाता है। अिसी तरह होलीका त्योहार शूद्रोंका त्योहार है। क्या अिसीलिये किसी ज़मानेके बिगडे हुअे शूद्रों द्वारा होलीका यह कार्यक्रम बनाया गया था और अुनके हकोंको कायम रखनेके लिये दूसरे वर्णोंने अुसे स्वीकार कर लिया था ? पुराणोंमें अेक नियम है कि होलीके दिन अछूतोंको छूना चाहिये। भला अिसका क्या अुद्देश्य रहा होगा ? द्विज लोग संस्कारी अर्थात् संयमी और शूद्र स्वच्छन्दी हैं, क्या अिसी विचारसे होलीमें अितनी स्वच्छन्दता रखी गअी है। होलीके दिन राजा-प्रजा अेक होकर अेक-दूसरे पर रंग अुडाते हैं। क्या अिसका आशय यह है कि सालमें कम-से-कम चार-पाँच दिन तो सब लोग समानताके सिद्धान्त-

त्योहार है, तो हम अुसे चुराकर लाअी हुअी लकड़ियोसे नही जला सकते । होलिका राक्षसी तो प्रह्लादकी निर्वैर पवित्रतासे ही जल सकती है ।

हमे यह सोचना चाहिये कि हमारे त्योहार हमारे राष्ट्रीय जीवन और हमारी सस्कृतिके प्रतिबिम्ब हैं या नही ? मनुष्य-मात्र अुत्सवप्रिय है परन्तु स्वतत्र मनुष्योका अुत्सव जुदा होता है, और गुलामोका जुदा । जो स्वतत्र होता है, जिसके सिर ज़िम्मेदारी होती है, जिसको अधिकारका अुपयोग करना होता है, अुसकी अभिरुचि सादा और प्रतिष्ठित होती है । जो पर-तत्र होता है, जिसे अपने अुत्तरदायित्वका ज्ञान नही, जिसके जीवनमें कोअी महत्त्वाकाक्षा नही अुसकी अभिरुचि बेढगी और अतिरेकयुक्त होती है। अेक ग्रथकारने लिखा है कि स्त्रियोको तरह-तरहके रग जो पसन्द आते हैं, और रग-बिरगी व चित्र-विचित्र पोशाककी ओर अुनका मन जो दौडा करता है, अुसका कारण अुनकी परवशता है। यदि स्त्री स्वाधीन हो जाय, तो अुसका पहनावा भी सादा और सफेद हो जायगा । स्त्रियोके सम्बन्धमें यह बात सच हो या न हो, मगर जनता पर तो यह भलीभाति चरितार्थ होती है। जिस जमानेमे जनता अधिकारहीन, परतन्त्र, बालवृत्तिवाली और गैरजिम्मेदारी रही होगी, अुसी जमानेमे मूर्खतापूर्ण कार्यों द्वारा अिस त्योहारको मनानेकी यह प्रथा प्रचलित हुअी होगी ।

रोमन लोगोमें सैटर्नेलिया नामसे गुलामोका अेक त्योहार मनाया जाता था । अुस दिन गुलाम अपने मालिकके साथ खाना खाते, जुआ खेलते, आजादीसे बोलते-चालते और खुशियाँ मनाते । अुस दिन अितना आनन्द मनानेके बाद फिर अेक साल तक गुलामीमे रहनेकी हिम्मत अुनमे आ जाती थी।

स्वराज्यवादी जनताको अधिक गम्भीर बनना चाहिये । अपनी योग्यता क्या है, अपनी स्थिति कैसी है, आदि बातोका विचार करके अुसको अैसा जीवन बिताना चाहिये, जो अुसे

का अनुभव करें।

होली यानी काम-दहन, वैराग्यकी साधना। विषयको काव्यका मोहक रूप देनेसे वह बढता है। अुसीको बीभत्स स्वरूप देकर, नगा करके, समाजके सामने अुसीका असली रूप खडा करके, विषयभोगके प्रति घृणा अुत्पन्न करनेका अुद्देश्य तो अिसमे नही था न ? जाडेभर जिसके मोहपाशमे फँसे रहे, अुसकी दुर्गति करके, अुसे जलाकर और पश्चात्तापकी राख शरीरपर मलकर वैराग्य धारण करनेका अुद्देश्य तो अिसमे नही था न ?

अिसकी जडमे प्राचीन कालकी लिग-पूजाकी विडम्बना तो नही थी न ?

लेकिन होलिकाका अर्थ वसन्तोत्सव भी तो है। जाडा गया, वसन्तका नूतन जीवन वनस्पतियोमे भी आ गया। अत जाडेमे जमा करके रखी हुअी तमाम लकडियोको अेकत्र करके आखिरी बार आग जलाकर ठडको बिदा करनेका तो यह अुत्सव नही है न ? और यह ढुढा राक्षसी कौन है ? कहते है कि यह नन्हे बच्चोको सताती है। होलीके दिन जगह-जगह आग सुलगाकर, शोर-गुल मचाकर अुसे भगा दिया जाता है। अिसमे कौन-सी कवि कल्पना है ? क्या रहस्य है ?

लोगोमे अश्लीलता तो है ही। वह मिटाये मिट नही सकती। कुछ लोगोका खयाल है कि 'तुष्यतु दुर्जन' न्यायके अनुसार अुसे सालमे अेक दिन दे देनेसे वह हीन वृत्ति वर्षभर काबूमे रहती है। अगर यह सच है, तो यह अेक भयकर भूल है। आगमे घी डालनेसे वह काबूमे नही रहती। पाप आग अग्निके साथ स्नेह कैसा ? वसन्तका अुत्सव औश्वर स्मरण पूर्वक सौम्य रीतिसे मनाना चाहिये। क्या दीवालीमे अुत्सवका आनन्द कम होता है ? क्या लकडियोकी होली जलानेसे ही सच्चा वसन्तोत्सव मनाया जा सकता है ? यदि यह माना जाय कि होलिका अेक राक्षसी थी और अुसे जलानेका यह

त्योहार है, तो हम अुसे चुराकर लाअी हुअी लकड़ियोंसे नहीं जला सकते। होलिका राक्षसी तो प्रह्लादकी निर्वैर पवित्रतासे ही जल सकती है।

हमें यह सोचना चाहिये कि हमारे त्योहार हमारे राष्ट्रीय जीवन और हमारी सस्कृतिके प्रतिबिम्ब हैं या नहीं? मनुष्य-मात्र अुत्सवप्रिय है परन्तु स्वतत्र मनुष्योंका अुत्सव जुदा होता है, और गुलामोंका जुदा। जो स्वतत्र होता है, जिसके सिर जिम्मेदारी होती है, जिसको अधिकारका अुपयोग करना होता है, अुसकी अभिरुचि सादा और प्रतिष्ठित होती है। जो पर-तत्र होता है, जिसे अपने अुत्तरदायित्वका ज्ञान नहीं, जिसके जीवनमें कोअी महत्त्वाकाक्षा नहीं अुसकी अभिरुचि बेढगी और अतिरेकयुक्त होती है। अेक ग्रथकारने लिखा है कि स्त्रियोंको तरह-तरहके रग जो पसन्द आते हैं, और रग-बिरगी व चित्र-विचित्र पोशाककी ओर अुनका मन जो दौड़ा करता है, अुसका कारण अुनकी परवशता है। यदि स्त्री स्वाधीन हो जाय, तो अुसका पहनावा भी सादा और सफेद हो जायगा। स्त्रियोंके सम्बन्धमें यह बात सच हो या न हो, मगर जनता पर तो यह भलीभाति चरितार्थ होती है। जिस जमानेमें जनता अधिकारहीन, परतन्त्र, बालवृत्तिवाली और गैरजिम्मेदारी रही होगी, अुसी जमानेमें मूर्खतापूर्ण कार्यों द्वारा अिस त्योहारको मनानेकी यह प्रथा प्रचलित हुअी होगी।

रोमन लोगोंमें सैटर्नेलिया नामसे गुलामोंका अेक त्योहार मनाया जाता था। अुस दिन गुलाम अपने मालिकके साथ खाना खाते, जुआ खेलते, आजादीसे बोलते-चालते और खुशियाँ मनाते। अुस दिन अितना आनन्द मनानेके बाद फिर अेक साल तक गुलामीमें रहनेकी हिम्मत अुनमें आ आती थी।

स्वराज्यवादी जनताको अधिक गम्भीर बनना चाहिये। अपनी योग्यता क्या है, अपनी स्थिति कैसी है, आदि बातोंका विचार करके अुसको अैसा जीवन बिताना चाहिये, जो अुसे

शोभा दे। अगर वसन्तोत्सव मनाना है, तो समाजमे नया जीवन पैदा करके यह त्योहार मनाना चाहिये। अगर काम-दहन करना है, तो ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके पवित्र बनना चाहिये। यदि होलिकोत्सव गुलामोके लिये अेकमात्र सात्वना-का साधन हो, तो स्वराज्यकी खातिर अुसे तुरन्त ही मिटा देना चाहिये। अगर भाषाके भण्डारमेसे गालियोकी पूंजी कम हो जाय, तो अुसके लिये शोक करनेकी कोअी जरूरत नही। होलीके दिनोमे शहरो और गाँवोकी सफाअी करनेमे हम अपना समय बिता सकते है। लडके कसरत करने और बहादुरीके मरदाने खेल खेलनेमे तथा शराबके व्यसनमे फँसे हुअे लोगोके मुहल्लोमे जाकर अुन्हे शराबखोरी छोड देनेका व्यक्तिगत अुपदेश देनेमे अिस दिनका अुपयोग कर सकते हैं। स्त्रियाँ स्वदेशीके गीत गा-गाकर खादीका प्रचार कर सकती हैं।

प्रत्येक त्योहारका अपना अेक स्वराज्य-संस्करण अवश्य होना चाहिये क्योकि स्वराज्यका अर्थ है आत्म-शुद्धि और नवजीवन।

१०-३-२२